जैन भारती

मई 2013 • वर्ष 61 • अंक 5 • वार्षिक रु. 200.00

श्रद्धा और समर्पण ने छू ली अध्यात्म की ऊँचाइयां

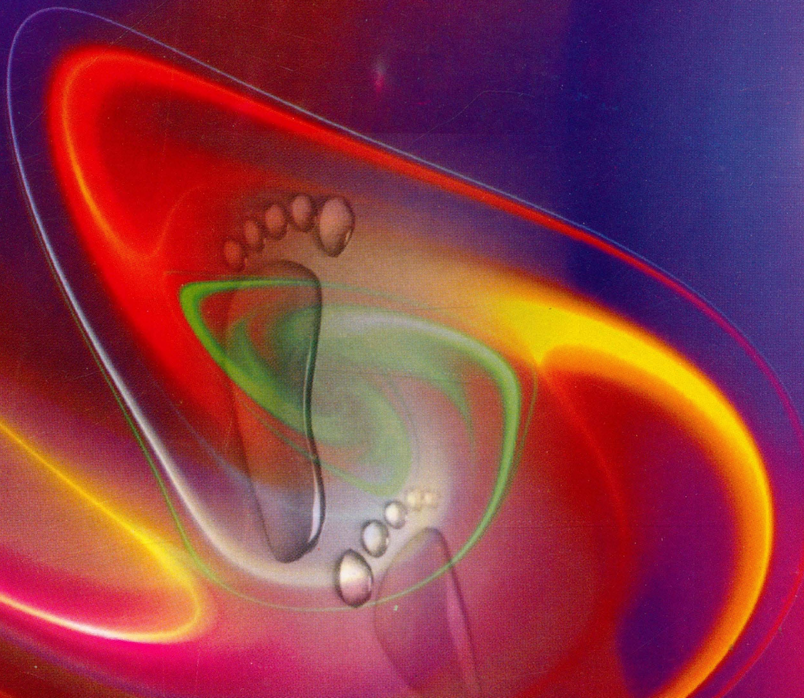

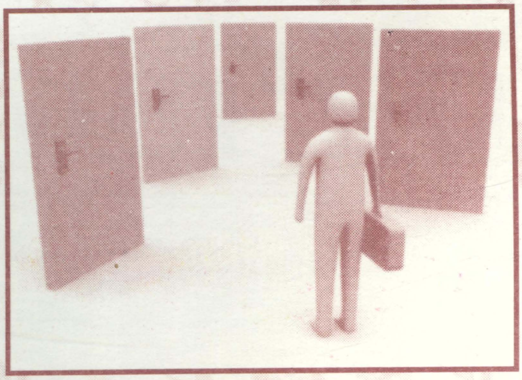

उठो, जागो और लक्ष्य तक मत रुको
—स्वामी विवेकानंद

NIRMAL CHORDIA
RISHI CHORDIA

Omega™
AN ISO 9001 COMPANY
* HOT PRESSED
* ECO-FRIENDLY
* TERMITE RESISTANT
* A QUALITY PRODUCT
THE QUALITY CONSISTENT PLYWOOD

AN ISO 9001 : 2000 CERTIFIED COMPANY
WOOD SHINE™
PLY & BOARD
Termite Resistant
Heat Resistant
Fungus Resistant
Borer Free
Life time Guarantee
A QUALITY PRODUCT

KUBER PLY
TERMITE RESISTANT
WATER PROOF
PRESERVATIVE TREATED
PHENOL BONDED (BWP GRADE)
100% BOILING WATER PROOF

PP

PLY PORT

Wholesale & Retail

Dealers in :

Plywoods, Timber and Allied Products

REGD. OFF. :

No. 59, Choolai High Road
Choolai, Chennai 600112
Phone : 044-25387087, 42825736
Cell : 9381008335

SHOW ROOM

No. 134/1, Choolai High Road
Chennai 600112
Phone : 044-26693241, 42825046
Cell : 9840035641

जैन भारती

वर्ष 61 • मई, 2013 • अंक 5

सम्पादक

डॉ. शान्ता जैन

आवरण

गौरीशंकर

1.	आदिनाथ स्तुति	–आचार्य तुलसी	4
2.	संपादकीय		5
3.	अक्षय तृतीया	–आचार्य तुलसी	7
4.	अनुशासन, संवेग और सहिष्णुता	–आचार्य महाप्रज्ञ	9
5.	मोह छोड़ो	–आचार्य महाश्रमण	13
6.	मानसिक एकाग्रता का फल	–साध्वी राजीमती	15
7.	पोथी पढ़ पंडित भया	(कहानी)	19
8.	प्रशस्तता के समीकरण आचार्य महाप्रज्ञ	–डॉ. समणी सत्यप्रज्ञा	23
9.	बीज वटवृक्ष बन गया	–आचार्य तुलसी	26
10.	महाप्रज्ञ को शत-शत प्रणाम	–मुमुक्षु शान्ता	30
11.	श्रद्धा प्रणति		32
12.	महाश्रमण अष्टकम्	–साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा	33
13.	प्रणति पंचामृत प्रदाता को	–साध्वी शुभप्रभा	35
14.	आत्मशुद्धि का उपक्रम : विनम्रता	–साध्वी चित्रलेखा	39
15.	वीतराग कल्प आचार्य महाश्रमण	–पदमचंद पटावरी	41
16.	व्रत और मेरा अनुभव	–अगरचंद नाहटा	44
17.	अतिभोगवाद से उत्पन्न समस्याएं	–डॉ. हीरालाल छाजेड़	49
18.	माया महाठगिनी हम जानी	–नीरज जैन	51
19.	तेरापंथ शासन का कार्यकारी हस्ताक्षर महासभा		54

संपादकीय सम्पर्क सूत्र : डॉ. शान्ता जैन, जैन विश्व भारती विश्वविद्यालय, लाडनूं, 341306

प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401

प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001

सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- • त्रैवार्षिक 500/- • दसवर्षीय 1500/- रुपए

ACHARYA ... MANDIR

आदिनाथ स्तुति

जय मंगलमय! मंगल प्रतिपल हो।
जय आदीश्वर! हममें अतुल आत्मबल हो।।

मानव को मानव-संस्कृति की पहली देन तुम्हारी,
मानवता के अटल पुजारी! बार-बार बलिहारी,
है मानव चिर आभारी।
जय जग-जीवन! स्मृतियां अविचल हों।।1।।

नई दिशा युग को दी तुमने नई शृंखला जोड़ी,
मानव-मानव के मानस में नई रश्मियां छोड़ीं,
युग-युग की जड़ता तोड़ी।
जय ज्योतिर्धर! ज्योतित भूतल हो।।2।।

राजनीति के नव-निर्णायक नव-समाज-निर्माता,
नव-जीवन-चर्या-निर्देश नव-तत्त्वों के ज्ञाता,
आध्यात्मिक-लय-उद्गाता।
जय हृदयेश्वर! आस्था अविकल हो।।3।।

धर्मनीति के प्रथम प्रवर्तक आर्हत-मत-अधिनेता,
धार्मिक प्रथम, प्रथम भिक्षाचर, प्रथम सत्य-निर्णेता,
शासन के प्रथम प्रणेता।
जयतु तपोधन 'तुलसी' मंगल हो।।4।।

रचयिता —आचार्य तुलसी

श्रद्धा और समर्पण ने छू ली अध्यात्म की ऊंचाइयां

श्रद्धा और समर्पण अध्यात्म विकास के महत्त्वपूर्ण सूत्र हैं। ये जीवन सफर में जीवन मूल्यों के विकास के लिए मील के पत्थर बनते हैं। भारतीय अध्यात्म संस्कृति के दो शिखर पुरुष आचार्य महाप्रज्ञ और आचार्य महाश्रमण—दोनों का जीवन-वृत्त इस बात का साक्षी है कि गुरु-शिष्य के संबंधों को जो ऊंचाई और गहराई मिली है, उन दोनों के बीच अभेद की भूमिका बनाने का एकमात्र साधन रहा है उनकी अपने गुरु के प्रति अटूट श्रद्धा और सर्वात्मना समर्पण। श्रद्धा और समर्पण से अनुप्राणित उनका जीवन सिर्फ दृश्य, श्रव्य या कथ्य ही नहीं है, आचरणीय भी है। तो आइए—इस शुभ अवसर पर भक्ति भावना के साथ हम श्रद्धा और समर्पण की अर्थवत्ता को समझें और उस अध्यात्म प्रणेता आचार्य महाश्रमण का अभिनंदन करें, जिन्होंने इसी भूमिका पर अध्यात्म की ऊंचाइयां छुई हैं और जो हमारे लिए प्रणम्य बन गए हैं, क्योंकि अध्यात्म-प्रवेश से पहले लक्ष्य के प्रति श्रद्धा और समर्पण बहुत जरूरी होता है।

आचार्य महाश्रमण एक समवाय है अनेक विशेषताओं का। उनके व्यक्तित्व में जादुई सम्मोहकता है। उनके संवाद में साधना का संदेश है। उनकी सन्निधि में बदलाव का विश्वास है। उनके प्रवचन में व्रती चेतना के जागरण का पाथेय है।

उनका मन सिद्धांत से ज्यादा आचरण पर विश्वास करता है। आचार की शुद्धता पर आपकी आंख टिकती है, और गलती चाहे छोटी भी क्यों न हो, सुधार के लिए अंगुली-निर्देश होता है। साध्य के प्रति समर्पित चेतना में छोटा-सा छिद्र भले प्रमाद का हो या गफलत का, लापरवाही का हो या असावधानी का, उन्हें कभी, कहीं सह्य नहीं होता, क्योंकि शुद्ध साधुता की निष्ठा के प्रति आप सर्वात्मना समर्पित हैं। इसीलिए आपकी पुण्याई भी पवित्रता से प्रकाशित है।

'तिन्नाणं तारयणं' का नारा सिर्फ नारा ही नहीं है। आपने लाखों-लाखों लोगों को भवसागर पार पहुंचाने के लिए नौका बन तट दिया है। बुराइयों का प्रवेश रोका है। स्वस्थ समाज की संरचना में व्यसन-मुक्ति का अभियान जोड़ा है। आपकी अनुकंपाशील संवेदनशीलता तो वृक्ष की छांव, बरसात के पानी और सूरज के प्रकाश ज्यों सब में बंट जाना चाहती है, क्योंकि आपके लिए कोई अपना-पराया नहीं होता।

श्रद्धा और समर्पण आचार्य महाश्रमण के जीवन निर्माण के व्याख्या सूत्र हैं। यह कली से फूल और किरण से सूरज बनने का सच है। आपने सजग प्रहरी की तरह इन्हें सदा अपने साथ रखा है, इसलिए महाश्रमण में न अर्थहीन तर्क का आदतन संस्कार है और न सबको गौण कर स्वयं को सबकुछ मानने का अहंभाव है, क्योंकि वे जानते हैं कि तर्क और अहं सत्य प्राप्ति में सबसे बड़ी बाधा हैं।

आचार्य तुलसी के प्रति आचार्य महाप्रज्ञ और आचार्य महाप्रज्ञ के प्रति आचार्य महाश्रमण का गुरु-शिष्य संबंध श्रद्धा और समर्पण के मजीठे रंग से रंगा है। दोनों की गुणात्मक विशेषताएं जीवन के कई रहस्य खोलती हैं—

श्रद्धा और समर्पण किसी के प्रति हो, आधा-अधूरा नहीं होता और न ही समय-सापेक्ष होता है। उसमें न स्वार्थ जुड़ा होता है और न ही प्रतिदान में कुछ पाने का सम्मोह। समर्पण में प्रतिकूलताओं के विरुद्ध लड़ने की ताकत बसती है। प्रवाह, प्रदर्शन या प्रलोभन से अनछुआ रहकर प्रतिस्रोतगामिता का निष्ठाभाव गहराता है।

समर्पण में विवशता नहीं, विवेक जागता है। वहां व्यक्ति की इच्छाओं, आकांक्षाओं और उम्मीदों का दमन नहीं होता, बल्कि उन्हें संयम और विवेक की पहरेदारी मिलती है। विकास का खुला आसमां मिलता है। गुरु-शिष्य की अर्हताओं को नई पहचान मिलती है।

शिष्य गुरु बनाता नहीं, उसकी तलाश भी नहीं करता, शिष्यत्व की तैयारी होते ही गुरु स्वयं सामने आ खड़े होते हैं, ऐसे गुरु, जो स्वयं रोशनी से भरे हैं। संतता से दीपित हैं, ज्ञान और आचार से समन्वित हैं, शिष्य के लक्ष्य को पहचान देने वाले हैं।

श्रद्धा और समर्पण में विश्वास का बहुत मूल्य है। विश्वास किया नहीं जाता, होता है, पर कब? जब आईने की तरह व्यक्तित्व सामने उभर कर खड़ा हो जाए। अपने आपको पहचान देने में न उसमें झूठ हो, न कपट, न छलावा, न दिखावटीपन, क्योंकि सच कभी मुखौटा नहीं पहनता।

जहां श्रद्धा और समर्पण होते हैं वहां यह भी सच है कि न कहीं किसी का शोषण होता है और न ही कहीं अधिकारों का हनन। न भ्रांतियां गलत रास्ते पर उतरती हैं, न गलतफहमियां मन में दरारें डालती हैं, न अफवाहों की तेज आंधियां विश्वास को उड़ा ले जाती हैं और न संकल्प की धार निस्तेज पड़ती है।

आचार्य तुलसी कहा करते थे कि समर्पण का अर्थ किसी दूसरे के हाथ में अपना भाग्य सौंप देना नहीं, किंतु समर्पित होने का अर्थ है—सत्य को पाने की दिशा में प्रस्थान।

इसी दिशा में प्रस्थित पवित्रता और प्रभुता से संपन्न, तपस्विता और तेजस्विता से दीप्त, श्रद्धा, समर्पण और सत्य के प्रति समर्पित श्रद्धेय आचार्य महाश्रमण के चतुर्थ पदाभिषेक दिवस पर हम सब शत-शत वंदन करते हैं। ❒

—मुमुक्षु शान्ता

अक्षय तृतीया

आचार्य तुलसी

भगवान ऋषभ इस युग के प्रथम तीर्थंकर हुए। वे अंतिम कुलकर नाभि के पुत्र थे। कुलकर व्यवस्था एक मोड़ पर पहुंचकर शिथिल होने लगी। नाभि के सामने कठिनाइयां उपस्थित हुईं। उन्होंने अपने पुत्र ऋषभ को व्यवस्था संभालने का दायित्व सौंपा। ऋषभ के पास अतींद्रिय ज्ञान था। वे जनता की समस्याओं को समझते थे और उनके समाधान भी जानते थे। उन्होंने देखा कि यौगलिक युग समाप्ति के दौर पर है। कल्पवृक्षों से आवश्यकता पूरी करने की बात जम नहीं रही है। लोगों की आकांक्षाएं बढ़ रही हैं। ऐसी स्थिति में व्यवस्था में सुधार अपेक्षित है। व्यवस्था को बदलने का काम स्वयं ऋषभ को करना था।

नए युग की पहली समस्या

सबसे बड़ी समस्या थी भोजन की। उसके लिए कृषि का विकास हुआ। खेती से प्राप्त अन्न का उपयोग करने के लिए व्यवस्था का क्रम शुरू हुआ। अन्न को दूसरे स्थानों पर भेजते समय लूटमार होने लगी तो उसकी सुरक्षा के लिए क्षत्रियों की नियुक्ति हुई। समाज-व्यवस्था को अच्छे ढंग से संचालित करने के लिए ब्राह्मणों को उपदेशक का दायित्व सौंपा गया। प्राथमिक रूप से इस व्यवस्था के बाद ऋषभ निश्चिंत थे, पर उस युग के लोग बहुत सरल थे। वे जीवन यापन की समस्या का समाधान नहीं पा सके। कुछ लोग मिलकर ऋषभ के पास गए और अपनी अहम समस्या भूख को कैसे शांत करें, उनके सामने रखी।

ऋषभ ने कृषि विज्ञान को विस्तार दिया। अन्न उत्पादन की कला सिखाई। कच्चा अन्न पचाने में कठिनाई हुई तो उसे हाथों से मल-मलकर खाने का निर्देश दिया। वह भी पच नहीं सका तो पानी में भिगोकर खाने के लिए कहा। कुछ दिन काम चला। उससे भी अजीर्ण होने लगा। एक दिन कुछ लोगों ने जंगल में आग देखी। वे दौड़े-दौड़े ऋषभ के पास आए। ऋषभ ने कहा-'यह बहुत उपयोगी है। अन्न को इसमें पकाकर खाओ।' अन्न को अग्नि में डालने पर वह जलकर भस्म होने लगा। यह समस्या फिर ऋषभ के पास पहुंची। उन्होंने मिट्टी के पात्र बनाने की कला सिखाई। कृषि का विस्तार होने से अन्न शोधन की प्रक्रिया में सुधार की अपेक्षा हुई। इस बीच पशुपालन का क्रम भी चल पड़ा था। ऋषभ ने लोगों को बताया कि अन्न का ढेर कर बैलों को उस पर घुमाओ। इस तरीके से अन्न की सफाई हो जाएगी। बैलों को छोड़ा गया तो वे अन्न खाने लगे। कुछ लोग दौड़े। वे ऋषभ के पास पहुंचकर बोले-'बैल स्वयं भूखे हैं। वे पूरा खा लेंगे। हमारे लिए क्या बचेगा?' ऋषभ ने कहा—'छींकी बनाकर उनका मुंह बांध दो।' मुंह बांधने के बाद अन्न खाने की समस्या दूर हो गई। काम पूरा होने पर उन्होंने बैलों को चारा-पानी दिया, पर आश्चर्य! बैलों ने खाना-पीना छोड़ दिया।

लोगों के सामने एक नई समस्या खड़ी हो गई। वे दौड़े-दौड़े ऋषभ के पास गए। ऋषभ ने सारी बात सुनकर पूछा—'बैलों के मुंह पर जो छींकी लगाई थी, उसको खोला या नहीं? लोग बोले—'आपने खोलने के लिए कब कहा था?' ऋषभ का आदेश पाकर छींकी खोल दी गईं। बैल चारा-पानी लेने लगे। लोग खुश हो गए।

किंवदंती है कि बैलों के मुंह पर बारह घंटा छिंकी रही। बारह घंटे की अंतराय के कारण ऋषभ के जो कर्मबंधन हुआ, उसका परिणाम बारह वर्ष तक भोजन न मिलने के रूप में सामने आया। यह अभिमत बहुत उत्तरकालीन प्रतीत होता है। इसके संबंध में गंभीर शोध की अपेक्षा है। लोकजीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरा करने की प्रक्रिया बताने के बाद ऋषभ ने समाज-व्यवस्था का समुचित प्रबंधन किया। उन्होंने विवाह संस्था की नींव रखी। सुनंदा और सुमंगला उनकी दो रानियां थीं। वे सौ पुत्रों और दो पुत्रियों के पिता बने। परिवार, समाज और राज्य की पूरी व्यवस्थाएं करने के बाद उनको अध्यात्म का पथदर्शन देना था।

अध्यात्म का पथदर्शन

अध्यात्म का व्यावहारिक पथदर्शन देने के लिए ऋषभ घर छोड़ चल पड़े। उनके साथ हजारों राजकुमार हो गए। इस क्षेत्र में नया दिशा-दर्शन देने के लिए वे मौन हो गए। राजकुमार ऋषभ की निःस्पृहता से विचलित हो अलग-अलग रास्तों में बिछुड़ गए। ऋषभ अपने-आप में लीन थे। उन्होंने देखा कि सारा संसार.भोजन करता है। उन्होंने प्रतिस्रोत में आगे बढ़ने का निश्चय किया। भोजन के बिना भी आदमी जी सकता है, इस सत्य को उजागर करने के लिए उन्होंने लंबे समय तक भोजन नहीं किया, यह संभावना भी की जा सकती है।

इस संभावना के आधार पर माना जा सकता है कि पूरे एक वर्ष तक ऋषभ निराहार रहे। एक वर्ष की अवधि में यह सिद्धांत स्थिर हो गया कि साधना के क्षेत्र में तपस्या का विशेष महत्त्व है। बिना तपस्या सफलता का द्वार नहीं खुल सकता। ऋषभ का मानसिक संकल्प पूरा होने के बाद उन्होंने भिक्षा के लिए घूमना शुरू किया, पर उस समय तक लोग साधुओं को भिक्षा देने की विधि से परिचित नहीं हुए थे।

ऋषभ की विचित्र चर्या

ऋषभ गांव-गांव गए। घर-घर घूमे। कुछ लोग हाथी-घोड़े लेकर आए। कुछ स्वर्ण मुद्राएं लाए और तो क्या, कुछ व्यक्ति कुमारी कन्याओं को ऋषभ पर निछावर करने के लिए तैयार हो गए। ऋषभ न रुके, न बोले। जैसे आए, वैसे ही चले गए। लोगों को कुतूहल बढ़ता रहा। वे सोचते रहे कि बाबा के भ्रमण का राज क्या है? ये न कुछ लेते हैं और न कुछ कहते हैं।

अहो दानम् अहो दानम्

आखिर ऋषभ घूमते-फिरते हस्तिनापुर पहुंचे। वहां उनके प्रपौत्र श्रेयांस ने उनको देखा। उस समय वह अपने स्वप्न के बारे में सोच रहा था। उसने स्वप्न में सुमेरु को अमृत से सींचा था। ऋषभ से साक्षात्कार होते ही स्वप्न पर विचार की तरंगें तीव्र हो गईं। ऋषभ का व्यक्तित्व उसे काफी आकर्षक लगा। उस बिंदु पर एकाग्र होते ही उसे जातिस्मृति का ज्ञान हो गया। उसने जाना कि बाबा ऋषभ भोजन के लिए घूम रहे हैं। इस जानकारी के साथ ही दौड़कर नीचे आया। ऋषभ के चरणों में झुका और बोला–'प्रभो! पधारो, कृपा करो, कुछ भोजन लो।'

श्रेयांस के अनुरोध को स्वीकार कर ऋषभ राजप्रासाद में आए। श्रेयांस ने इधर-उधर देखा। तब तक भोजन बना नहीं था। दूध भी नहीं था। श्रेयांस को संकोच का अनुभव हुआ। सहसा इक्षुरस से भरे घड़ों पर उसकी नजर टिकी, जो राजघरानों से भेंटस्वरूप आए हुए थे, वे घड़े ज्यों-के-त्यों पड़े थे। श्रेयांस ने पूछा–'प्रभो! इक्षुरस लेंगे?' ऋषभ तैयार थे। उनके पास पात्र नहीं था। वे मुंह पर अंजलि टिकाकर खड़े हो गए। श्रेयांस ने घड़ा उठाया और परम प्रसन्नता के साथ प्रभु को दान दिया। एक वर्ष की लंबी तपस्या का पारणा हुआ। उसके साथ ही पांच दिव्य प्रकट हुए। सुगंधित जल, पुष्प, वस्त्र, रत्न की वर्षा और 'अहोदानं, अहोदानं' की घोषणा ने सब लोगों को चौंका दिया। वे परस्पर बात करने लगे-'दूध तो हमारे घर में रखा था, हमारे घर तो मिठाई पड़ी थी, हमारे घर तो पूरा भोजन बन गया, इत्यादि।' अब क्या हो सकता था। उस युग में ऋषभ प्रथम भिक्षाचर बने और श्रेयांस प्रथम दानदाता बना।

वह दिन वैशाख शुक्ला तृतीया का दिन था। ऋषभ ने उसको अक्षय बना दिया। इसी कारण 'अक्षय तृतीया' का दिन लोकपर्व के रूप में प्रतिष्ठित हो गया।

महाजनो येन गतः स पन्थाः

प्राग् ऐतिहासिक काल का यह प्रसंग आज भी लोकसंस्कृति में जीवित है। इसकी जीवंतता का आधार है महान पुरुषों का अनुकरण। 'महाजनो येन गतः स पंथाः' जिस पथ पर महान व्यक्ति चल पड़ें, वह सबके लिए प्रशस्त हो जाता है। भगवान ऋषभ ने तपस्या का रास्ता अपनाया। उसी परंपरा को आगे बढ़ाते हुए सैकड़ों-हजारों लोग एकांतर तप के रूप में वर्षीतप करते हैं। तपस्या करनेवालों में किशोर, युवक और वृद्ध सभी सम्मिलित हैं। तपस्या के साथ जप, ध्यान, चौविहार, ब्रह्मचर्य का पालन आदि संकल्पों या आत्मोपलब्धि के महान उद्देश्य से अनुप्राणित यह पर्व आडंबर, प्रदर्शन और आत्मख्यापन के धरातल से ऊपर उठकर नितांत अध्यात्म का दर्शन बने, यह अपेक्षा है। ❑

अनुशासन, संवेग और सहिष्णुता

आचार्य महाप्रज्ञ

हम दो शब्दों पर विचार करें—स्वच्छंदता और अनुशासन। एक व्यक्ति चाहे छोटा बच्चा है या बड़ा आदमी, मन में जो आए वह करना चाहता है, किसी दूसरे की बात को मानना नहीं चाहता, उसका नाम है स्वच्छंदता। एक है अनुशासन। जो मन में आए, वही नहीं करना है, दूसरा कोई मार्गदर्शन दे; वह मुझे करना है, वह है अनुशासन। एक चिकित्सक बीमार हो गया। वह अपनी चिकित्सा स्वयं नहीं करता। दूसरे डॉक्टर से परामर्श करता है, जांच कराता है। वह स्वयं जानता है फिर भी दूसरे से चिकित्सा कराता है। यह परतंत्रता कहें या अनुशासन, बहुत अपेक्षित है।

स्वतंत्रता और परतंत्रता दोनों सापेक्ष हैं। किसी ने पूछा—मैं स्वतंत्र हूं या परतंत्र ? उत्तरदाता ने कहा—तुम खड़े हो जाओ, एक पैर उठाओ। एक पैर उठा लिया। अब कहा कि दूसरा उठाओ। बोला—दूसरा कैसे उठाऊंगा ? गिर जाऊंगा। उसने कहा—देखो, खड़े होकर एक पैर उठाने में तुम स्वतंत्र हो, खड़े होकर दूसरा पैर उठाने में तुम परतंत्र हो।

स्वतंत्रता और परतंत्रता दोनों सापेक्ष हैं। हमें परतंत्रता को भी स्वीकार करना चाहिए। हमारी मनोदशा परिपक्व नहीं बनी है, उस अवस्था में परतंत्र रहना बहुत अच्छा है, दूसरे की बात पर ध्यान देना बहुत अच्छा है। केवल मनचाहा करना अच्छा नहीं होता। उसको चाहे पथदर्शन कह दें, अनुशासन या स्वेच्छाकृत परतंत्रता कहें, चाहे बड़ों का सम्मान कहें, कुछ भी कहें—बहुत आवश्यक होता है। सबमें एक जैसी समझदारी नहीं होती। अवस्था भेद से देखें। एक पांच वर्ष का बच्चा यह सोचे कि मैं स्वच्छंद रहूंगा, जो मन में आए वही करूंगा, दूसरा कहेगा वह काम नहीं करूंगा, तो उसका भविष्य खतरे में रहता है। उसके लिए अभिभावक की बात को मानना जरूरी है और जो नहीं मानता है वह सचमुच! खतरे में चला जाता है। कुछ व्यक्तियों का मस्तिष्कीय विकास अच्छा होता है, और कुछ का कमजोर होता है। जिनका अच्छा है, हो सकता है कि दस-बीस वर्ष बाद उनको दूसरे के अनुशासन की ज्यादा जरूरत न रहे। जिसकी मस्तिष्कीय क्षमता कम है, वह सत्तर वर्ष का हो जाए, तो भी अनुशासन की जरूरत रहती है।

अवस्था का तारतम्य, मस्तिष्कीय क्षमता का तारतम्य और वातावरण—इन सबके संदर्भ में हम अनुशासन को समझने का प्रयत्न करें। अनुशासन की समस्याएं बहुत हैं। एक आदमी दूसरे की अच्छी बात को भी अच्छा नहीं मानता, सम्यक् ग्रहण नहीं करता। किसी ने अच्छी बात कही कि अभी तुम यह काम क्यों कर रहे हो। इतने में गुस्सा हो जाता है। उत्तराध्ययन सूत्र में सामान्य निर्देश सूत्र हैं—अणुसासिओ न कुप्पेज्जा—कोई अनुशासन करे तो क्रोधी न बनें, गुस्सा न करें, शांति रखें, क्षमा रखें। एक सामान्य सूत्र में बहुत गहरी बात कह दी है। हम अनुशासन को तब तक नहीं समझ सकते, जब तक संवेग को ठीक समझ नहीं पाते।

जैन परिभाषा का शब्द है भाव और मनोविज्ञान का शब्द है—इमोशन, संवेग। भाव और संवेग दोनों में अंतर क्या है ? भाव तो स्थायी है। उसे उत्तेजना मिलती है, उत्तेजित होता है तब वह संवेग बन जाता है। हर व्यक्ति में क्रोध है, क्रोध का स्थायी भाव है, किंतु अभी मैं देख रहा हूं कि इतने लोग प्रवचन सुन रहे हैं। अभी क्रोध दिखाई नहीं दे रहा है। इसलिए कि उत्तेजना नहीं है। भाव तो है, पर संवेग नहीं है। कोई ऐसी स्थिति आई, उत्तेजना मिली और वह भाव संवेग बन गया। भाव है स्थायी अवस्था। संवेग है सामयिक अवस्था, वह स्थायी नहीं है। संवेग बनता है फिर समाप्त हो जाता

है। उत्तेजना मिली और भाव संवेग बन गया। उत्तेजना का कारण गया और संवेग भी भाव में बदल गया। यह संवेग तो उत्तेजना का नाम है। जो हमारे स्थाई भाव हैं वे जब उत्तेजित होते हैं, संवेग बन जाते हैं, और संवेग में सारी समस्याएं पैदा होती हैं।

हम अनुशासन को समझें तो साथ-साथ भाव और संवेग को समझना भी जरूरी है। अनुशासन में समस्या तब पैदा होती है, जब हमारे भावों का परिष्कार नहीं होता। क्रोध, अहंकार, लोभ, काम-वासना, घृणा—ये पांच तत्त्व मुख्य हैं जो अनुशासन में बाधा डालते हैं। जिस व्यक्ति में क्रोध प्रबल है और उसको किसी ने एक अच्छी बात कही, पर उसे नहीं सुहाती। बया ने बंदर को बहुत अच्छी बात कही—तू कांप रहा है, अच्छी झोंपड़ी क्यों नहीं बना लेता। बहुत अच्छी बात थी, हित की बात थी, पर बंदर को इतना गुस्सा आया कि यह कहते हुए बया के घोंसले को भी गिरा दिया—तुम मुझे सीख दे रही हो। मैं घर बनाने में समर्थ नहीं हूं, पर घर तोड़ने में समर्थ हूं। क्रोध की तीव्र अवस्था में अनुशासन निरर्थक हो जाता है।

अनुशासन को समझने के लिए क्रोध, अहंकार, लोभ, घृणा, काम-वासना—इनकी अवस्थाओं को समझना जरूरी है। अवस्थाएं तीन प्रकार की होती हैं— तीव्र, मध्य और मंद। क्रोध की तीव्र अवस्था, क्रोध की मध्य अवस्था और क्रोध की मंद अवस्था। इसी प्रकार अहंकार आदि की तीन अवस्थाएं होती हैं। जब इनकी मंद अवस्था होती है उस समय शायद दूसरे को अनुशासन करने की जरूरत नहीं होती। उस व्यक्ति में आत्मानुशासन प्रकट हो जाता है। जब मध्य अवस्था होती है तब कभी-कभी अनुशासन करने की अपेक्षा रहती है। तीव्र अवस्था है कषाय की, क्रोध आदि की, उस अवस्था में तो अनुशासन करने की बहुत आवश्यकता होती है। बाधा भी वही डालता है। स्थानांग सूत्र में इनके चार-चार प्रकार किए हैं। जिस व्यक्ति का क्रोध पत्थर की रेखा के समान होता है, उस व्यक्ति पर अनुशासन करना बड़ा कठिन है, क्योंकि वह सहन ही नहीं कर सकता।

हम अनुशासन, सहिष्णुता, संवेग—तीनों को एक साथ समझने का प्रयत्न करें। सहिष्णुता के संदर्भ में पहला सिद्धांत यह है कि हर व्यक्ति में शक्ति होती है। कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं जिसमें शक्ति नहीं है। शक्ति के सैकड़ों प्रकार हैं। जैन आचार्य का एक बहुत सुंदर ग्रंथ है ध्यान विचार। उसमें शक्ति के लाखों प्रकार किए गए। उनमें एक प्रकार है शक्ति का। सहन करने की शक्ति। वह ऋतु की बाधा को सहन करे। व्यक्ति सर्दी को सहन कर सकता है, गर्मी को सहन कर सकता है, आक्रोश को सहन कर सकता है। कोई गाली दे तो सहन कर सकता है। कोई पिटाई करे तो भी सहन कर सकता है। कोई अच्छी बात कहे तो भी सहन कर सकता है। शक्ति तो है, पर सहन करने की दिशा में शक्ति का प्रयोग बड़ा कठिन होता है। सहिष्णुता की शक्ति के विकास में एक बड़ी बाधा है अहंकार। क्रोध का बड़ा कारण है अहंकार। जिसमें जितना अहंकार उसमें उतना अधिक क्रोध होगा। क्रोध के साथ अहंकार की व्याप्ति नहीं है, पर अहंकार के साथ क्रोध की व्याप्ति है। अहंकार प्रबल है तो आदमी सहन नहीं कर सकता।

आचार्य भिक्षु ने अनुशासन की व्यवस्था की। वे केवल व्यवस्था करते तो मान्य नहीं होती। पहले अपने शिष्यों को विनम्रता का प्रशिक्षण दिया। एक ग्रंथ लिखा—'विनीत अविनीत की चौपई।' उसमें विनय का विश्लेषण किया, अविनय का विश्लेषण किया, अहंकार विलय का प्रशिक्षण दिया। इससे विनम्रता बढ़ी, अहंकार घटा, सहन करने की शक्ति बढ़ गई। जयाचार्य ने कुछ गीत लिखे हैं। अग्रणी को संबोधित एक गीत में उन्होंने लिखा—अग्रणी बनना चाहते हो या हम बनाते हैं। अगर सहन करने की शक्ति है तो ही अग्रणी बनो। अगर सहन करने की शक्ति नहीं है तो पहले ही कह दो कि मैं सहन नहीं कर सकता, इसलिए मुझमें अग्रणी होने की योग्यता नहीं है। पहले आत्म निवेदन कर दो, फिर पछताना नहीं पड़ेगा। पहले महत्त्वाकांक्षा की बात जगे, अग्रणी बन जाए और फिर भूल होने पर कोई अंगुली निर्देश करे—तुम भूल कर रहे हो, ऐसा मत करो। यदि उस समय सारे देवी-देवता नाराज हो जाते हैं तो फिर अग्रणी बनने का कोई अधिकार नहीं है। अग्रणी वही व्यक्ति बने, जिसमें सहन करने की शक्ति है, अनुशासन को मानने की

शक्ति है। अनुशासन मानने की शक्ति नहीं है उसमें वह योग्यता भी नहीं होती।

अहंकार सहिष्णुता की शक्ति का बाधक तत्त्व है। अहंकारी व्यक्ति सहन नहीं कर सकता। पिता पुत्र को कुछ कहे, इतने में तो पिता से अलग चूल्हा जल जाता है। वर्तमान में असहिष्णुता काफी प्रबल है। इसलिए अभिभावक भी डरते रहते हैं कि कुछ कहा तो पता नहीं क्या होगा, कल लड़का घर में मिलेगा या नहीं मिलेगा ? कहीं भाग जाएगा या पता नहीं क्या कर लेगा ? चिंता रहती है। गुरु भी डरते रहते हैं कि अगर शिष्य पर अनुशासन किया तो चेला भाग जाएगा फिर मैं अकेला रह जाऊंगा, क्या होगा ? इस असहिष्णुता ने साधु संस्था को भी काफी कमजोर किया है और परिवार संस्था को भी काफी कमजोर किया है। जहां अनुशासन नहीं वहां बुराई आने का द्वार नहीं, महाद्वार खुल जाता है। बुराई को रोकने का, बुराई का प्रतिकार करने का, अच्छाई के प्रवेश का और अच्छाई के विकास का एक बड़ा साधन है—रोक-टोक, अंगुली निर्देश और अनुशासन। अगर वह नहीं है तो फिर पतन को कौन रोक सकता है। दूसरी बड़ी बाधा है ममकार। जहां ममकार है वहां असहिष्णुता को बढ़ने का मौका मिलता है।

आचार्य भिक्षु ने अहंकार और ममकार दोनों के लिए जो व्यवस्था दी, उसमें भाव को संवेग होने का मौका नहीं मिलता। उत्तेजना के कारण को समाप्त कर दिया। मर्यादा कर दी—कोई पद के लिए उम्मीदवार नहीं बनेगा। केवल आचार्य के सिवाय कोई पद नहीं और आचार्य पद के लिए कोई उम्मीदवार नहीं बनेगा। जो उम्मीदवार बनेगा वह संघ में रह नहीं सकेगा। अहंकार की जो समस्या थी, उसको नष्ट करने का प्रयत्न किया।

गृहस्थों में ममकार होता है धन का। साधुओं को ममकार होता है शिष्यों का। शिष्यों को लेकर रस्सा-कशी चलती है। आचार्य भिक्षु ने व्यवस्था दी—कोई साधु-साध्वी अपना शिष्य नहीं बना सकता। शिष्य बनाने का अधिकार एकमात्र आचार्य को है। कोई किसी का शिष्य नहीं है। इस मर्यादा से ममकार से पैदा होने वाली असहिष्णुता का दरवाजा भी बंद हो गया।

अहंकार, ममकार—ये दोनों व्यक्ति को असहिष्णु बनाने वाले तत्त्व हैं। अहंकार के स्थान पर विनम्रता का प्रशिक्षण और ममत्व के स्थान पर सामुदायिक चेतना का प्रशिक्षण हो तो संगठन भी अच्छा चल सकता है, अनुशासन भी अच्छा रह सकता है और अनुशासन के बिना होने वाली अनेक समस्याओं का समाधान भी हो सकता है, पर यह कैसे हो ? इस प्रश्न पर हमें विचार करना है तो फिर संवेग को देखना होगा। संवेग की तीव्रता की स्थिति में अनुशासन किया नहीं जा सकता और अनुशासन का पालन भी नहीं हो सकता, इसलिए आवश्यक है कि संवेग को मंद अथवा मध्य बनाने का अभ्यास और साधना की जाए और उसके अनुरूप व्यवस्था की जाए।

उत्तराध्ययन सूत्र का पहला अध्ययन है- विनय का प्रशिक्षण। अच्छा साधु वह बनेगा जिसने विनय का प्रशिक्षण लिया है। जिसमें विनय का प्रशिक्षण नहीं है वह अनुशासित नहीं हो सकता और अच्छा साधु नहीं बन सकता। वही साधु संस्था अनुशासित रह सकती है, अच्छी हो सकती है जिसमें शिष्यों को विनय का प्रशिक्षण दिया जाता है। वही परिवार अच्छा रह सकता है जिसमें विनय और अनुशासन का प्रशिक्षण दिया जाता है और वही समाज या राष्ट्र अच्छा रह सकता है, जहां अनुशासन और विनय का प्रशिक्षण दिया जाता है।

सहिष्णुता के लिए आवश्यक है लोभ की चेतना का परिवर्तन। समस्या है लोभ की चेतना। कोई वस्तु आती है और मन ललचाता है। अनुशासन के साथ व्यवस्था भी जरूरी है। पूज्य कालूगणी के युग में वस्त्र की सुलभता नहीं थी। उस समय बाहर से आती थी विलायती मलमल (सूती वस्त्र) वह बहुत अच्छी होती, सुख स्पर्श वाली होती। एक थान आया, दस साधु पछेवड़ी लेने वाले। आचार्य क्या करे ? किसको दें, किसको न दें। अगर एक को दें, दूसरे को न दें तो पक्षपात की बात होती है। वहां संविभाग की बात नहीं होती। पूज्य कालूगणी ने व्यवस्था दी—चिट्ठी डाल दो। दस चिट्ठी में दस का नाम डाल दो, दस में से जिसके हाथ चिट्ठी आ जाएगी उसका वस्त्र हो जाएगा। पछेवड़ी का नाम भी चिट्ठी की पछेवड़ी हो गया। यही नाम चलता रहा। व्यवस्था बहुत जरूरी है। जहां ऐसी स्थिति आए

वहां व्यवस्था कर दो, जिससे सहिष्णुता को बाधा न पहुंचे।

प्रशिक्षण के साथ व्यवस्था बहुत जरूरी है। प्रशिक्षण और व्यवस्था दोनों आवश्यक हैं। आचार्य तुलसी ने एक ग्रंथ लिखा—'शैक्ष शिक्षा प्रकरण।' जो नव-दीक्षित साधु-साध्वियां हैं, उनको शिक्षा देने के लिए यह ग्रंथ लिखा। प्रारंभ से ही विनम्रता का, क्रोध-विजय का, अहंकार-विलय का प्रशिक्षण दिया जाए जिससे वह सहन कर सके, सहन करने की शक्ति बढ़ती रहे।

सहिष्णुता के अनेक प्रसंग हैं। सहिष्णुता की पहली कसौटी है—शारीरिक सहिष्णुता। हम शरीर के द्वारा कितना सहन कर सकते हैं? जिसमें शारीरिक सहिष्णुता नहीं होती, वह थोड़ा-सा कष्ट आने पर घबरा जाता है। मुनि के लिए बाईस परीषहों का विधान किया गया। तत्त्वार्थ सूत्र में उमास्वाति ने लिखा—'मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः'—परीषहों को सहने के विधान का एक उद्देश्य है कि मार्ग से च्युत न हो। दूसरा उद्देश्य है—निर्जरा, शोधन हो। सर्दी को सहन करो, गर्मी को सहन करो, सबको सहन करो—सहन करना सफलता का सूत्र है। मुझे याद है, जब दूसरा महायुद्ध चल रहा था, जर्मनी को अफ्रीका पर आक्रमण करना था। जर्मनी का जो वातावरण है, वह ठंडा था। अफ्रीका गर्म मुल्क है। जर्मनी की सेना अफ्रीका में कैसे लड़ सकती है? सैनिकों को अभ्यास कराया गया, ऐसे कमरे बनाये गये, अफ्रीका जैसे तापमान में रखकर सैनिकों को प्रशिक्षण दिया गया और फिर वह सेना वहां लड़ी।

इस बात पर हम ध्यान दें कि भाव को हम समाप्त नहीं कर सकते। जब तक व्यक्ति वीतराग नहीं बनता, भावों की समाप्ति नहीं होती, भाव तो विद्यमान रहेंगे। क्या करना है हमें? भाव की दो अवस्थाएं बनती हैं—भाव की उत्तेजित अवस्था, भाव की शांत अवस्था। शांत समुद्र और तूफानी समुद्र। हम इतना कर सकते हैं कि प्रशिक्षण के द्वारा उत्तेजित अवस्था को बदल सकते हैं। यही है चेतना का रूपांतरण, जो प्रेक्षाध्यान के द्वारा कराया जाता है—हम उत्तेजित को शांत कर दें। घटना घटे, परिस्थिति आए, कुछ भी आए तो हमारा भाव संवेग न बने, हम उत्तेजित न बनें। शांति के साथ समस्या का समाधान करें।

झगड़े का स्थान, असहिष्णुता का स्थान क्या है? साधुओं के लिए भिक्षा और गृहस्थों के लिए रसोई। ये झगड़े के बहुत बड़े स्थान हैं। रसोई है, थोड़ा नमक कम हो गया, भोजन करने बैठा और थाली के ठोकर लगा दी, लड़ाई-झगड़ा शुरू कर दिया।

जब तक हम उपशम की साधना न करें, उसका अभ्यास न करें तब तक इसको बदला नहीं जा सकता। अगर किसी व्यक्ति को सहिष्णुता की दीक्षा देनी है, सहिष्णु बनाए रखना है तो केवल यह उपदेश मत दो कि तुम सहन करो, सहिष्णु बनो। उसे अहंकार और ममकार के विसर्जन का प्रशिक्षण दो। इन दो का प्रतिकार और अभ्यास हो जाएगा—अहंकार पर भी उसका कंट्रोल है और ममकार पर भी नियंत्रण है तो फिर उसकी सहिष्णुता आबाद रह सकेगी। इन दोनों को निरस्त करने का अभ्यास नहीं है—न तो विनम्रता की साधना की और न आकिंचन्य या लाघव की साधना की और फिर हम यह कहें कि तुम्हें सहिष्णु रहना चाहिए, बात-बात में ऐसा नहीं करना चाहिए, ऐसी बात बोलना नहीं चाहिए तो यह हमारा केवल शब्दों का व्यापार होगा। वह सुन लेगा, पर समय पर वही करेगा जो करता आया है। कलह भी करेगा, लड़ाई-झगड़ा भी करेगा, बोलचाल भी करेगा, सब कुछ करेगा।

जब हम अनुशासन पर विचार करते हैं तो सबसे पहले हमें सहिष्णुता पर विचार करना चाहिए। सहिष्णुता पर विचार करते समय हमें अहंकार और ममकार के विसर्जन पर विचार करना चाहिए। उसके लिए कोरा चिंतन नहीं, साधना और अभ्यास करना चाहिए। केवल सहिष्णुता की अनुप्रेक्षा ही नहीं, साथ में विनम्रता की अनुप्रेक्षा और आकिंचन्य की अनुप्रेक्षा—ये दोनों अनुप्रेक्षाएं हों तो फिर सहन करने की बात आती है। असहिष्णु व्यक्तियों को शिक्षा बहुत दी जाती है, पर शिक्षा का अर्थ कितना होता है। आप निश्चित मानें—प्रशिक्षण के बिना, अभ्यास के बिना परिवर्तन नहीं हो सकता, इसलिए आवश्यक है अनुशासन के विकास के लिए सहिष्णुता का प्रशिक्षण और सहिष्णुता के विकास के लिए अहंकार और ममकार के विलय का प्रशिक्षण। यह प्रक्रिया चले तो हमारी सहन करने की शक्ति बढ़ सकती है। ❐

मोह छोड़ो

❑

आचार्य महाश्रमण

मोह एक राजा है। उसके सैनिक है अहंकार और ममकार। अहंकार में आदमी आता है तब दूसरे की परवाह नहीं करता, नम्रता समाप्त या गौण सी हो जाती है और कभी-कभी इतना ज्यादा अहंकार आता है, आदमी मदोन्मत्त सा हो जाता है। जैसे मदिरापान से आदमी उन्मत्त हो जाता है वैसे अहंकार से भी उन्मत्त हो जाता है। इसको त्यागकर आदमी सुखी बन सकता है। श्रीमद्‌भगवदगीता में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं— .

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च।।2/52।।

जिस काल में तेरी बुद्धि मोहरूप दलदल को भलीभांति पारकर जाएगी, उस समय तू सुने हुए और सुनने में आनेवाले इस लोक और परलोक संबंधी सभी भोगों से वैराग्य को प्राप्त हो जाएगा।

मोह एक प्रकार का कीचड़ है, दलदल है। दलदल में कोई हाथी फंस जाए तो उसकी क्या स्थिति होती है? दसवेआलियं की चूलिका में बताया गया है—

पुत्तदारपरिकिण्णो मोहसंताणसंतओ।
पकोसन्नो जहां नागो, स पच्छा परितप्पइ।।1/8।।

साधु किसी कारण से साधुत्व को छोड़कर घर चला जाता है, परिवार में फंस जाता है। पुत्र और स्त्री से घिरा हुआ, मोह की परंपरा से परिव्याप्त वह वैसे ही परिताप करता है जैसे पंक में फंसा हुआ हाथी। हाथी ज्यों-ज्यों कीचड़ से निकलने का प्रयास करता है, त्यों-त्यों पांव और अंदर चला जाता है। उसकी कैसी दयनीय स्थिति बन जाती है? जो साधु साधुत्व के नंदनवन को छोड़कर घर-परिवार में चला जाता है, फिर पत्नी, बेटे, पोते आदि हो जाते हैं। वह उसमें ऐसा फंसता है जैसे कोई हाथी दलदल में फंस जाता है। बाद में वह व्यक्ति पश्चात्ताप करता है– अरे! मैं कहां फंस गया? नंदनवन-सा धर्मशासन था। मैं वहां आनंद में था, वहां से मैं यहां क्यों आ गया? श्रीमज्जयाचार्य ने एक गीत में लिखा है—

नंदनवन भिक्षु गण में वसोरी।
हे जी प्राण जाय तो ही पग म खिसोरी।।

नंदनवन रूपी इस शासन में रहो। प्राण भले चले जाएं, पर शासन को छोड़ने का विचार मत करो, परंतु आदमी कभी आवेश में आ जाता है या साधना में मन नहीं लगता है तो मोहग्रस्त होकर धर्मशासन रूपी नंदनवन को छोड़ देता है और दलदल में जाकर फंस जाता है। फिर वहां से निकलना मुश्किल हो जाता है। आचार्य भिक्षु की भाषा में—

उजळा ने मेला कह्या जोग।
मोह करम संजोग विजोग।।

हमारा योग उज्ज्वल तब रहता है जब मोह कर्म से मुक्त होता है। मोह से युक्त जब मन, वचन, काय हो जाते हैं तो योग मैले, गंदे हो जाते हैं। मोह एक ऐसी गंदगी है, जब लग जाती है तो चेतना भी विकृत बन जाती है। आदमी जागरूक रहे कि मोह का पंक कहीं लग न जाए, इससे दूर रहने का प्रयास करना चाहिए। जब बुद्धि मोह से मुक्त हो जाती है, मोह के दलदल से निकल जाती है तब विरक्ति का भाव प्राप्त होता है। गीता में मोह शब्द आया है। उत्तराध्ययन में भी शब्द आया है। वहां कहा गया है 'अण्णाणमोहस्स विवज्जणाए' —अज्ञान और मोह का क्षय होने से आत्मा एकांत सुखमय मोक्ष को प्राप्त होती है।

अज्ञान और मोह में एक आंतरिक संबंध है। ज्ञान को अज्ञान बनानेवाला दर्शनमोह है। उत्तराध्ययनकार ने जहां यह कहा कि अज्ञान मोह है इसको छोड़ो, मोह का विवर्जन करने से एकांत सुख, जहां दुःख हो ही नहीं सकता, मात्र सुख ही है, ऐसे मोक्ष स्थान को प्राप्त हो जाओगे। वहीं गीताकार ने भी ऐसी ही बात कही कि तुम मोह को पार कर दोगे तो निर्वेद, जो अपने आपमें सुख होता है, को प्राप्त हो जाओगे। गीता और उत्तराध्ययन में भावों की भी काफी समानता है और कहीं-कहीं शब्दों की भी समानता मिलती है।

आसक्ति और विरक्ति—ये दो छोर हैं। एक आसक्ति का छोर है और एक विरक्ति का छोर है। हमें आसक्ति से चलकर विरक्ति तक पहुंचना है। हम ज्यों-ज्यों आसक्ति से विरक्ति की ओर आगे बढ़ेंगे, त्यों-त्यों आसक्ति कम होती चली जाएगी और विरक्ति हमारे निकट होती चली जाएगी। जिस स्थान से आदमी गंतव्य की ओर प्रस्थान करता है, वह स्थान धीरे-धीरे दूर हो जाता है और गंतव्य धीरे-धीरे निकट होता चला जाता है। यदि कपड़ों में आसक्ति है, मोह का भाव है तो यह भाव वीतरागता की प्राप्ति में बाधा है। परिवार में रहते हुए भी अनासक्ति की चेतना प्रज्वलित हो, साधक का ऐसा प्रयास रहना चाहिए। जैसे धाय माता शिशु का पालन पोषण करती है परंतु मन में सोचती है कि लड़का मेरा नहीं है। मेरा काम तो इसकी सेवा करना है। वैसे ही साधक यह सोचे कि परिवार में मुझे रहना है। परिवार की सेवा करना मेरा फर्ज है परंतु परिवार वास्तव में मेरा नहीं है। मेरी आत्मा मेरी है। मेरी साधना मेरी है। यह अनासक्ति का अभ्यास है।

हमें आसक्ति से अनासक्ति की ओर आगे बढ़ना है। जितनी-जितनी आसक्ति होगी, हम उतने ही मोह के पंक में फंसते जाएंगे। हमें कोई ऐसा व्यक्ति मिल जाए, जो हाथ पकड़ कर कीचड़ से बाहर निकाल दे और हम अनासक्ति के नंदनवन में पहुंच जाएं। आसक्ति दलदल है, अनासक्ति नंदनवन है। हमें उस दलदल से निकलकर नंदनवन में जाना है। वहां सैर करना है, घूमना है। मोह के अनेक रूप हैं। मात्र ममता ही मोह नहीं है, गुस्सा करना भी मोह है, अहंकार भी मोह है, कामवासना भी मोह है और मेरापन का भाव आना भी मोह है। हम अनेक रूपों में मोह को देखें। मोह के परिवार को समझें और अपने आपको मोह के परिवार की पकड़ से निकालने का प्रयास करें। हमें मोह की पकड़ से निकलने के लिए थोड़ा पराक्रम करना होगा, पुरुषार्थ करना होगा। मोह का प्रभाव होता है तब आदमी बेईमानी करता है, धोखाधड़ी करता है। पैसा पास में है, कोई कमी की बात नहीं, पर ऐसी लालसा आकांक्षा जाग जाती है कि और पैसा चाहिए, इसलिए वह गलत कारनामों में भी चला जाता है। हम ऐसा अभ्यास करें कि मोह को पार कर सकें, हालांकि मैं मानता हूं कि मोह को पूरा पार करना अभी कठिन हो सकता है। खैर, हम पूरा पार न भी कर सकें, कुछ तो पार करें। मोह की सघनता को कुछ तो कम करें।

आगम वाङ्मय में एक शब्द आता है पयणु। साधु पूरा वीतराग न भी बन सके, किंतु पृतनु—क्रोध, मान, माया, लोभवाला तो बने। उसका गुस्सा भी थोड़ा मंद हो, अहंकार भी मंद हो, माया भी कम हो और लोभ भी प्रायः शांत हो, साधु को ऐसी स्थिति का निर्माण कर लेना चाहिए। हम मोह की सघनता को कम करने का, उसकी तीव्रता को मंदता में ले जाने का प्रयास करें तो एक समय आएगा, हम मोह को पूरा पार कर लेंगे और गीता व उत्तराध्ययन की बात हमारे जीवन में चरितार्थ हो जाएगी। ❑

मानसिक एकाग्रता का फल

साध्वी राजीमती

मन की एकाग्रता, मन की स्थिरता और मन की पवित्रता—ये तीनों परस्पर अनुबंधित हैं। एकाग्रता से स्थिरता आती है और स्थिरता से पवित्रता। मन की पवित्रता से जो स्थिरता आती है वह धर्मध्यान कहलाती है। एक भाई ने पूछा—'मेरा ध्यान क्यों नहीं जमता?' मैंने कहा—'ध्यान कोई वस्तु नहीं है जिसे आप पुकारें और वह आ जाए। ध्यान का जहाज पवित्रता के एरोड्रोम पर उतरता है। जितनी पवित्रता उतना ध्यान। यह असली ध्यान की बात है। जिस ध्यान से चित्त की शुद्धि नहीं होती वह धर्म ध्यान नहीं, किंतु कर्मध्यान है। ऐसे ध्यान को जैनदर्शन आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान कहता है। ये दोनों ध्यान एकाग्रता के शिखर पर चले जाते हैं, परंतु आत्मरोधक नहीं होते, क्योंकि इनकी एकाग्रता संयोग-वियोग की पीड़ा से, बीमारी की व्याकुलता से एवं हिंसा आदि पापों से अनुबंधित होती है जबकि धर्मध्यान आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान के प्रति तन्मय होता है। इस तन्मयता से ध्यानकर्ता महान कर्मनिर्जरा-पवित्रता प्राप्त करता है। वह चार अनुप्रेक्षाएं करता है—एकत्व अनुप्रेक्षा, अनित्य अनुप्रेक्षा, अशरण अनुप्रेक्षा और संसार अनुप्रेक्षा।

एकत्व अनुप्रेक्षा—दुनिया का हर आदमी संबंधों के बीच जीता है। व्यक्ति का संबंध और वस्तु का संबंध। सहयोग लेना और सहयोग देना—यह सामान्य जीवन व्याख्या है। परिवार और समाज की यही उपयोगिता है कि वह एक-दूसरे को सहयोग दे, किंतु जिन व्यक्तियों को इस बाहरी दुनिया की सचाई के साथ-साथ अंतर की सचाई को जानना है और उसके अनुरूप जीवन जीना है, उन्हें 'मैं एक हूं। अकेला हूं, यह मेरे चारों ओर जो घेरा है, वह मैं नहीं हूं।' इसे स्वीकार कर चलना है। सबके साथ रहते हुए बहुत बार बहुत व्यक्ति यह भूल जाते हैं कि मैं इन सबसे भिन्न हूं। मैं शरीर के साथ रहता हूं, पर मैं शरीर नहीं हूं। मैं परिवार के साथ रहता हूं, परंतु मैं परिवार नहीं हूं। विद्या, वैभव और मकान के साथ रहता हूं, परंतु 'मैं' से अभिव्यक्त होनेवाला मेरा अस्तित्व इन सबसे स्वतंत्र है। मैं किसी का हूं और मेरा कोई है, इस आस्था को तोड़ने का उपाय है एकत्व भावना का अभ्यास। इस अभ्यास से आसक्ति क्षीण होती है।

ध्यान की सफलता का एक सूत्र है—एगोऽहं की अनुप्रेक्षा। भीतर जाने के लिए एकत्व की भावना चाहिए, बिना एकत्व की अनुभूति किए कोई असली ध्याता बन नहीं सकता। भीतर जाने के बाद भी विचार, संस्कार और आंतरिक विकारों की भीड़ तब तक जाने नहीं देती। इन सबसे पार करती है यही एकत्व की भावना।

अनित्य भावना—दुनिया का हर प्राणी जन्म लेता है और एक दिन मर जाता है, क्योंकि वह अनित्य है। आज जिसका संयोग बना है, वह कुछ ही समय के बाद वियोग बन जाएगा। शरीर और शरीर का यौवन, धन और धन का गौरव यह भी अनित्य है। सारे संबंध और सारे संयोग, सारी उपलब्धियां और निष्पत्तियां अनित्य हैं। आज है, कल नहीं, फिर वियोग में पीड़ा क्यों? वस्तु और व्यक्ति से वियोग नियत है। यह जानते हुए भी आसक्ति नहीं टूटती, इसलिए भगवान ने कहा—'अनित्यता की भावना करो, शरीर प्रतिक्षण बदल रहा है। पदार्थ प्रतिक्षण नष्ट हो रहा है। फिर नए का आकर्षण और पुराने का विकर्षण क्यों? 'इमं शरीरं अणिच्चं'—यह अनुचिंतन करने के बाद मृत्यु का भय समाप्त हो जाता है। बीमारी और बुढ़ापे का दुःख भी नहीं रहता। भगवान महावीर ने दीक्षा के पूर्व छः मास तक यही अनुप्रेक्षा की थी। ध्यान की सुविधा है अनित्य अनुप्रेक्षा।

अशरण भावना—जीवन एक संघर्ष है। अनेक समस्याओं को जीते हुए सामना करना पड़ता है। वह मनुष्य चाहता है कि मेरी इस जीवन यात्रा में कोई मेरा सहारा बने। शरण बने। वह शरण उसे मानता है जो शरण योग्य नहीं है। धन सदा साथ नहीं देता। परिवार सदा सुख नहीं देता, फिर भी वह पदार्थ को शरण मानकर जीता है। ध्यान की दिशा में बढ़नेवाला इस भ्रांति को तोड़ता है। वह इस सचाई से परिचित हो जाता है, मेरी सुरक्षा मेरे द्वारा ही है। औरों से जो सुरक्षा चाहता है वह न मिलने पर दुःखी होता है। धर्म कहता है– तुम्हारा कोई त्राण नहीं है। माता, पिता, स्त्री, पुत्र, मित्र, जाति जितने आलंबन हैं, वे सब अंत में या बीच में छूट जाते हैं, अतः अपने ही ज्ञान, दर्शन, चारित्र को शरण मानो। जिनधर्म एवं जिनेश्वर देव की शरण में रहो।

संसार भावना—संसार भावना के अभ्यास से संसार के प्रति जो आकर्षण है वह नष्ट होता है। इसलिए ध्यान साधक के लिए इन भावनाओं का पूर्वाभ्यास अनिवार्य बताया गया है। जन्म और मृत्यु, उत्पाद और व्यय, विकास और ह्रास, अपना और पराया–ये सारे संसार के परिणमन हैं। दुःख, सुख के निमित्त बदलते रहते हैं। आज जो उसके लिए सुख का कारण है, कल वही दुःख का कारण बन सकता है, परंतु आपकी स्वस्थ मानसिकता सदा सुख का कारण रहेगी। ध्यान से व्यक्ति बदलता है। इसका तात्पर्य है– वह संतुलित जीवन शैली का सामर्थ्य प्राप्त करता है। जिसे बाहर का संसार प्रिय है वह भीतर प्रवेश नहीं कर सकता अतः संसार भावना का दैनिक अभ्यास जरूरी है।

ध्यान का अधिकारी कौन?

प्रश्न पूछा गया कि ध्यान का अधिकारी कौन? आचार्य तुलसी द्वारा लिखित अध्यात्म ग्रंथ 'मनोनुशासनम्' में ध्याता की कुछ मूलभूत कसौटियां बताई गई हैं। उत्तम कोटि का ध्याता वह होता है–

- जो स्वरूप जिज्ञासु है।
- जो मनोबली है।
- जो शांत स्वभाववाला है।
- जो अप्रमत्तजीवी है।
- जो मोक्षाभिलाषी है।
- जो दृढ़ संकल्पवाला है।
- जो शरीर से स्वस्थ है।
- जो विनम्र वृत्तिवाला है।
- जो रसलोलुप नहीं है।
- जो अल्पभाषी है।
- जो इंद्रियविजयी है।
- जो अल्प इच्छावाला है।

ध्यान की गहरी तैयारी में क्या चाहिए?

- गहरी सांस।
- समय-प्रबंधन।
- विधायक चिंतन।
- सात्विक भोजन।
- पेट की सफाई।
- आसन, प्राणायाम।
- साधकों का संपर्क।
- दीर्घ मौन का अभ्यास।
- व्यापार में प्रामाणिकता।
- बाह्य संपर्क का अभाव।
- निद्रा-विजय का अभ्यास।
- थकान से मुक्ति।
- तनावों से बचाव।
- एकाग्रता का दैनिक अभ्यास।
- उपयोगी साहित्य का स्वाध्याय।
- उपादान की दृढ़ निष्ठा।
- यथासंभव तप का प्रयोग।

सभी धर्मों में ध्यान की जितनी भी प्रणालियां प्रचलित हैं वे सभी मानसिक एकाग्रता को ही ध्यान कहती हैं, किंतु जैनदर्शन कहता है कि कायिक, वाचिक और मानसिक तीनों प्रकार के ध्यान होते हैं—

कायिक ध्यान—हाथ-पैर आदि शारीरिक स्थिरता का नाम ध्यान है। यदि विशेष आवश्यक होने पर अवयवों को यातनापूर्वक हिलाना पड़े, वह भी कायिक ध्यान है।

वाचिक ध्यान— ऐसी भाषा बोलना और ऐसी भाषा नहीं बोलना, यह विवेक वाचिक ध्यान है। मौनपूर्ण ध्यान है।

मानसिक ध्यान—एक आलंबन के सहारे मन को एकाग्र करना मानसिक ध्यान है।

ध्यान के तीन सहायक तत्त्व—भावना, अनुप्रेक्षा, चिंता। ध्यान की पृष्ठभूमि भावना है। ध्यान की गति-प्रगति के लिए भावना नितांत आवश्यक है। कहा भी है– जितना अभ्यास, उतनी गहराई। ध्यान में कैसे करें प्रवेश? इसका शास्त्रीय समाधान है भावना–'भाव्यते इति भावना ध्यानाभ्यास क्रिया।'

अभ्यास और वैराग्य के द्वारा चित्तवृत्तियों का शोधन एवं निरोध होता है। यह अभ्यास भावना से प्रारंभ होता है। भावना के मुख्य तीन प्रकार प्राप्त होते हैं– ज्ञानभावना, दर्शनभावना और चारित्रभावना। इन तीनों में से किसी एक भावना का आलंबन लेकर ध्यान करने की परंपरा रही है। आध्यात्मिक आलंबन व्यंक्ति को अध्यात्म की ओर ले जाते हैं। अभ्यास की परिपक्वता के पश्चात् कोई भी आलंबन साधक के पथ में सहयोगी बन सकते हैं। सामान्यतया भौतिक आलंबन भौतिकता की ओर ले जाते हैं।

ज्ञानभावना का निरंतर अभ्यास करने से मन की एकाग्रता और मन की विशुद्धि होती है। जिसने तत्त्व को जान लिया है, वही व्यक्ति ज्ञाता-द्रष्टा बन सकता है। ज्ञान से पदार्थ को भी जाना जा सकता है और स्वयं को भी। ज्ञान का मुख किधर है, अपनी ओर या पदार्थ की ओर? यदि अपनी ओर है तो वह ज्ञाता बनेगा और बाह्य की ओर है तो वह ज्ञानी बनेगा। सच तो यह है ज्ञानभावना के बिना वैराग्य भी नहीं जागता। वैराग्य से तात्पर्य है विरक्ति, अनासक्ति। ध्यानी जो भी करता है वह आवश्यकता से करता है। आकर्षण से प्रेरित होकर कुछ भी नहीं करता।

दर्शन भावना—जिसे सत्य में एवं स्वयं में आस्था होती है वह व्यक्ति ध्यान की गहराई में जा सकता है। दर्शन भावना के द्वारा ध्यान में प्रवेश करनेवाला शम, संवेग निर्वेद, करुणा आदि का आलंबन लेता है। जो आत्मगुणों के प्रति संमूढ है, जिसमें आस्तिकता नहीं है वह भौतिक सुख के लिए भले ध्यान करे, किंतु वह सत्य का साक्षात्कार करने के लिए नहीं कर सकता।

चारित्र भावना—ध्यानाभ्यास में चारित्रभावना का योग अनिवार्य है। पातंजलयोगशास्त्र में अष्टांग योग का उपदेश दिया गया है। वहां बताया गया है कि बिना यम-नियम के ध्यान की पृष्ठभूमि तैयार नहीं हो सकती। यही बात जैनशास्त्रों में वर्णित है कि मूलगुण (पंचमहाव्रत) और उत्तरगुण (सामान्य संकल्प–त्याग) की साधना करनेवाला साधक ही आसानी से ध्यान में प्रवेश कर सकता है। असंचय से कोई भी सिद्धि प्राप्त नही हो सकती।

तत्त्वानुशासन में ध्यान के अभ्यासी साधकों के लिए अन्य आठ अंगों का उल्लेख मिलता है–

1. ध्याता – इंद्रियमन का निग्रह कर्ता।
2. ध्यान – इष्ट विषय में लीनता।
3. फल – संवर निर्जरा से चित्त-शुद्धि।
4. ध्येय – ध्यान का आलंबन।
5. यस्य – ध्यान का अधिकारी।
6. यत्र – ध्यान क्षेत्र।
7. यदा – ध्यान का समय।
8. यथा – ध्यान की विधि।

ध्यान की आंतरिक तैयारी होनी चाहिए। इसके बिना बाह्य सब सामग्री उपलब्ध होने पर भी ध्यान जमता नहीं।' आंतरिक तैयारी का एक प्रारूप यह उपलब्ध होता है–

मा मुज्झय, मा रज्जह, मा दुस्सह, इहनिह अहेसु।
थिर मिच्छह जइचितं, विचित्त झाणापसिद्धिए।।
माचिद्वह, माजंपह, मा चिंतह किं विजेण होइ थिरो।
अप्पा अप्पंमिरओ, इणमेव परं हवेझाणं।।

—हे साधक! यदि तुम विचित्र ध्यान की सिद्धि प्राप्त करना चाहते हो तो इष्ट और अनिष्ट पदार्थों में मोह, राग और द्वेष मत करो। तुम किसी भी प्रकार की चेष्टा, जल्पक्रिया एवं चिंतनक्रिया मत करना ताकि तुम्हारा मन पूर्णतः स्थिर हो जाए। परिणामस्वरूप आत्मा में आत्मा का लीन होना ही ध्यान है।

'मनोनुशासनम्' में आचार्य तुलसी लिखते हैं— चित्तवृत्तियों का निरोध निम्नोक्त उपायों से किया जा सकता है—

1. ज्ञानवैराग्यभ्यां तन्निरोधः
2. श्रद्धा प्रकर्षेण—ध्यान श्रद्धा की तीव्रता से।
3. संकल्प निरोधेन—विकल्पों का नाश होने से।
4. ध्यानेन च—एक आलंबन पर स्थिर होने से।

ध्यान के लिए चाहिए—

समः त्यागः कषायाणां, निग्रहो व्रतधारण्।
मनोक्षाणां जयश्चेति सामग्री ध्यान जन्मनि।। (तत्त्वानुशासनम्)

आसक्तित्याग, कषायविजय, व्रतों का पालन, इंद्रिय और मन की विजय, यह ध्यान की सामग्री है। आचार्य महाप्रज्ञ कहते हैं—

- जीवन में संचय है तो ध्यान कैसे जमेगा?
- विचारों की भीड़ में ध्यान कैसे जमेगा?
- स्वस्थ पाचन के बिना ध्यान कैसे जमेगा?
- नैतिक हुए बिना ध्यान कैसे जमेगा?
- बिना आस्था के ध्यान कैसे जमेगा?
- इच्छाओं की अल्पता के बिना ध्यान कैसे जमेगा?
- अनासक्ति के बिना ध्यान कैसे जमेगा?
- आहार शुद्धि—के बिना ध्यान कैसे जमेगा?
- व्यवहारशुद्धि—के बिना ध्यान कैसे जमेगा?
- व्यापारशुद्धि—के बिना ध्यान कैसे जमेगा?
- अर्थशुद्धि—के बिना ध्यान कैसे जमेगा?
- संबंधों की शुद्धि के बिना ध्यान कैसे जमेगा?
- वैराग्य के बिना ध्यान कैसे जमेगा?
- अभ्यास के बिना ध्यान कैसे जमेगा?
- पवित्रता के बिना ध्यान कैसे जमेगा?

ध्यान अपनी क्षमताओं को जगाने का एक अभियान ही नहीं, तूफान है। भीतर की सफाई का सुंदरतम उपक्रम है, परंतु ध्यान के साथ ध्याता यह ध्यान भी करे कि भीतर कितनी सफाई हुई है। मुड़कर देखे, यही अनुप्रेक्षा है। ❐

पोथी पढ़ पंडित भया

चंद्रपुर नगर में प्रजावत्सल और विद्वान चंद्रजित नामक राजा राज्य करता था। उसके चंद्रानन नाम की रानी थी और बुद्धिसागर नामक मंत्री था।

एक बार राजसभा में किसी विद्वान ने राजा से निवेदन किया—'महाराज! विद्वान मनुष्य ही अच्छा होता है, मंद-बुद्धि किसी काम का नहीं।' मंत्री ने यह सुना तो कहा—'राजन्! पढ़ा हुआ भी मूर्ख ही होता है, अगर वह व्यवहार-मर्मज्ञ नहीं हो तो।'

मंत्री का कथन सुनकर राजा गंभीर हो गया। उसे अपने पुत्रों के विषय में चिंता हुई। उसने सोचा—'पुत्रों को यथार्थतः विज्ञ बनाना है। वे एकाग्रता से अध्ययन कर निष्णात बन सके, इसके लिए उसने भूमि के अंदर उनकी शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था की। एक कुशल आचार्य के द्वारा उनकी शिक्षा प्रारंभ हुई। दीर्घ समय तक वे अनुशासित रहकर विद्यार्जन करते रहे। व्याकरण, काव्य, दर्शन, राजनीति, ज्योतिष और वैद्यक आदि अनेक विषयों में राजकुमारों को पारंगत बनाकर वह राजसभा में लाया।

राजा आचार्य पर परम प्रसन्न हुआ। उसने आचार्य को प्रभूत धन देकर सम्मानित किया और गुणानुवाद करते हुए उसे विदा दी।

चारों राजपुत्र राजा के समीप बैठे हुए थे। राजा ने उनसे कुछ पूछा तो वे संस्कृत भाषा में बोले। उनकी प्रमार्जित संस्कृत सुनकर राजा बहुत आकृष्ट हुआ और मंत्री से पूछा—'क्यों मंत्रिवर! आपको राजकुमार कैसे लगे?'

मंत्री ने कहा—'राजन्! संसार में चार प्रकार के मनुष्य होते हैं। प्रथम कोटि के मनुष्य पढ़े-लिखे पंडित होते हैं। दूसरी श्रेणी के अपठित भी विद्वान होते हैं। तृतीय कक्षा में बिना पढ़े मूर्ख और चौथी कोटि में पढ़े-लिखे मूर्ख हो जाते हैं। चारों राजकुमार मुझे पठित मूर्ख-से लगते हैं।

राजा मंत्री को बहुत प्रज्ञा-पटु मानता था, अतः उसने उसके कथन का कोई प्रतिवाद नहीं किया। प्रत्युत् पूछा—'तुम्हें यह आभास कैसे हुआ?'

सचिव ने कहा—'ये लोक व्यवहार को नहीं जानते। इन्होंने तोते की तरह शास्त्रों का रटन किया है, पर उनका हार्द नहीं समझा। आपकी आज्ञा हो तो परीक्षा कर दिखाऊं।'

राजा ने कहा—'हां, कसौटी कर ली जाए।'

कुमारों के बुद्धि-कौशल को परखने के लिए मंत्री ने एक उपाय सोचा। उसने एक छलनी में पांच प्रकार के पकवान डालकर उन्हें खाने के लिए दिया। राजकुमारों ने बहुछिद्रवाली छलनी देखी तो बहुत विस्मित और भय-त्रस्त हुए। परस्पर उन्होंने गंभीर विचारणा की कि यह क्या बला है? ऐसी छिद्रमयी चीज तो आज तक हमने नहीं देखी। इतने में ही एक भाई बोला—'शास्त्रों में कहा है—*छिद्रेष्वनर्था बहुली भवन्ति। छेद से बहुत अनर्थ होते* हैं। हमें इस स्थान का परित्याग कर देना चाहिए। चारों की राय मिल गई। वे राजप्रासाद को छोड़कर बाहर जाने लगे।

मंत्री ने उनके सारे करतब देख लिए और राजा को सूचना दी—'राजन्! राजकुमार असल में पठित मूर्ख हैं। ये लोक व्यवहार को बिलकुल नहीं समझते।' ऐसा कहते हुए उसने राजकुमारों की सारी बात बता दी।

कुमारों का आचरण देखकर राजा निराश हुआ, पर

उनकी पूरी परीक्षा करने के लिए मंत्री से बोला—'उनके पीछे एक गुप्तचर लगा दो।'

राजकुमार जब राजद्वार के पास पहुंचे तो वहां एक रेंगता हुआ गधा खड़ा था। वे परस्पर बात करने लगे—'यह पांचवां भाई कौन आ गया? शास्त्र के अनुसार यह अपना भाई होता है। ग्रंथों में कहा है—

आतुरे व्यसनप्राप्ते, दुर्भिक्षे शत्रु-विग्रहे।
राजद्वारे श्मसाने च, य तिष्ठति स बान्धवः।।

रोग के समय, कष्ट के समय, दुर्भिक्ष, युद्ध, श्मशान और राजद्वार में जो मिलता है, वह बंधु होता है।

यह अपना भाई है, इसे भी साथ ले चलो—यों सोचकर उन्होंने गधे को अपने साथ ले लिया। वे कुछ ही आगे बढ़े थे कि उन्हें एक ऊंट बड़े वेग से दौड़ता आता दिखाई पड़ा। उसे देखकर वे आपस में तर्क-वितर्क करने लगे। यह क्या अजीब चीज है! हमने तो आज तक ऐसी वस्तु नहीं देखी। इतने में एक बोला—'नासमझो! यह तो धर्म है। ग्रंथों में कहा है—

स्थैर्यं सर्वेषु कार्येषु शंसन्ति नय-पण्डिताः।
बह्वन्तराययुक्तस्य धर्मस्य त्वरिता गतिः।।

पंडितों ने सब कार्यों में स्थिरता का उपदेश दिया है, पर धर्म को बड़ा त्वरितगामी माना है। देखो, इसकी गति कितनी तेज है! इसलिए यह तो साक्षात् धर्म है। चारों भाइयों के यह बात जच गई। वे उसके सामने खड़े हो गए। ऊंट की गति कुछ धीमी हुई तो वे उसकी गर्दन पकड़ कर बोलने लगे—'धर्म! तू बहुत भाग्य से प्राप्त होता है। हम बहुत भाग्यशाली हैं कि तुम हमें मिले हो, वे ऊंट से यों श्रद्धालाप कर ही रहे थे कि एक भाई बोल पड़ा—'भाई! मुझे एक शास्त्र का कथन याद आ रहा है—

सुकुले योजयेत् कन्यां, पुत्रे विद्यां नियोजयेत्।
व्यसने योजयेत् शत्रुमिष्टं धर्मे नियोजयेत्।।

कन्या का सुकुल के साथ, पुत्र का विद्या के साथ, शत्रु का विपत्ति के साथ और प्रिय का धर्म के साथ नियोजन करना चाहिए। इस शास्त्र-वाक्य के अनुसार अपने प्रिय बंधु को धर्म के साथ बांध देना चाहिए। भाई की सम्मति सबको पसंद आई। तब सबने मिलकर गधे को ऊंट के गले में बांध दिया। इन दोनों को लेकर उन्होंने आगे प्रस्थान किया। वे जब राज मार्ग से गुजर रहे थे तब यह अजीब नजारा देख कर लोग खूब हंस रहे थे और शोर मचाने लगे—आओ, बिना पैसे का खेल देख लो। यह सब कौशल पढ़े-लिखे इन मूर्ख राजपुत्रों का मालूम पड़ता है। सारे रास्ते में इनका खूब मजाक और हंसी हुई। गुप्तचर से राजा ने यह सारा संवाद सुना तो बहुत क्रुद्ध हुआ और अपने नगर से उनको बाहर निकालने के लिए आदेश दे दिया। मंत्री ने सुझाव दिया—राजन्, इस प्रकार अबोध राजकुमारों पर कुपित न होवें और फिर उन्हें नगर से निष्कासित करते हैं तो उनकी यात्रा के लिए तो कुछ सुविधा कर दीजिए। मंत्री के कथन का आदर करते हुए राजा ने राजकुमारों को दो बैलों से युक्त एक जीर्ण रथ दे दिया।

चारों राजकुमार उस रथ पर सवार होकर आगे चले। चलते-चलते वे जब एक नगर की सीमा के समीप पहुंचे तो भूख से व्याकुल हो गए। भोजन का समय भी हो चुका था। इसलिए खाना पकाने के लिए एक जलाशय के पास ठहर गए। भोजन बनाने की तैयारी करने लगे। एक भाई आग जलाने लगा। एक सब्जी खरीदने चला गया। एक घी लाने चला गया। चौथा भाई बैलों को चराने के लिए जंगल की ओर बढ़ गया। यों चारों अलग-अलग कामों में लग गए। रसोईवाले ने जो बर्तन चूल्हे पर चढ़ा रखा था, उसका पानी उबला तो उसमें कलकल शब्द होने लगा। भोजन बनानेवाले ने सोचा—शब्द का कोई कारण नहीं है। बर्तन व्यर्थ ही आवाज करता है। इसको शिक्षा देनी चाहिए। यों चिंतन कर उसने एक लाठी उठाई और बर्तन के दे मारी। लाठी का प्रहार लगते ही मिट्टी का बर्तन फूट गया, सब कुछ बिखर गया और आवाज बंद हो गई। उसने सोचा—इसे यथार्थ में शिक्षा लग गई है। अब कोई काम नहीं। यों सोच निश्चिंत हो सो गया।

जो सब्जी लाने गया था, उसने सबसे अच्छी सब्जी के विषय में सोचना शुरू किया। उसे हर वनस्पति सदोष लगी, वात श्लेष्मकारक दिखाई पड़ी। अतः वह सब सब्जियों को छोड़कर सर्वरोगनाशक नीम की पत्तियां ले आया।

तीसरा जो घी लाने गया था, लौटते समय सोचने लगा—घी का आधार पात्र है अथवा पात्र का आधार घी है? यों तर्कणा करते हुए उसने परीक्षा के लिए घृतपात्र को उलटा कर दिया। सारा घी जमीन पर जा गिरा। उसने सोचा—घी तो सब बर्बाद हो गया, पर चलो अपना संदेह तो दूर हुआ। अपने स्थान पर पहुंच कर उसने भाइयों को सारी कहानी सुना दी।

चौथा भाई वृक्ष की शीतल छाया में बैठा बैलों को चरा रहा था। इतने में एक आदमी आया और बैलों को हांककर ले जाने लगा, पर वह उठा नहीं। ज्योतिषशास्त्र का स्मरण करते हुए चिंतन करने लगा। जब स्थिर लग्न और स्थिर अंश का योग आयेगा, बैल अपने आप वापस आ जाएंगे। यों सोचकर उसने बैलों के अपहर्ता को कुछ भी नहीं कहा। वह दोनों बैलों को मजे से ले गया। यह सब देखते हुए भी कुछ नहीं बोला। कुछ समय बाद अपने भाइयों के पास आ गया और समग्र वृत्तांत बता दिया।

वहां से बिना कुछ खाए-पिए चारों नगर में आए। शहर में कोई परिचित तो था नहीं, न इनमें अक्ल ही थी, अतः भूखे-प्यासे संध्या तक इधर-उधर घूमते रहे। बड़ी दीन-हीन अवस्था हो गई। न कोई खाने-पीने की व्यवस्था और न कोई कहीं ठहरने का ठिकाना। दिन अस्त होते-होते ये सोम नामक एक सेठ की दुकान पर पहुंचे। सेठ ने उनसे बातचीत की और अपने यहां रख लिया। रात को ये खाना खाकर सो गए। सुबह सेठ ने सबको अलग कार्य सौंपा।

एक को तपे हुए घी का घड़ा देकर कहा—जाओ, इसे पास के शहर में बेच आओ, पर ध्यान रखना मार्ग में बहुत-से चोर रहते हैं, अतः सावधान होकर जाना। कोई लूट न ले।

वह सेठ की शिक्षा पाकर चला। जंगल के बीच उसके दिमाग में विचार उठा कि यहां कोई चोर होना चाहिए। उसने घड़े को सिर से नीचे उतारा और उसका ढक्कन हटाकर अंदर देखा कि कहीं घी की चोरी तो नहीं हो गई। उसने ज्यों ही भीतर झांका, उसको एक मनुष्य की आकृति दिखाई पड़ी। उसको बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने सोचा, सेठ ने ठीक ही कहा था। बर्तन के अंदर प्रत्यक्ष चोर दिख रहा है। बेटा बड़ा चालाक निकला। कब अंदर घुस गया, पता नहीं लगा, पर अब इसकी खबर लेनी चाहिए। यों सोचकर उसने घड़े को जोर से पत्थर पर दे मारा। घड़े के टुकड़े-टुकड़े हो गए और सारा घी जमीन पर बिखर गया। साथ ही चोर भी गायब हो गया। इसने सोचा, चलो घी और घड़ा तो गया, पर चोर का नामोनिशान मिटा दिया। बड़ा आनंदित होता हुआ वह सेठ के घर जाने के लिए वापस मुड़ा।

सेठ ने दो भाइयों को बैलगाड़ी देकर कहा—'जाओ, तुम लोग जंगल से लकड़ी ले आओ। ये जब उस पर सवार होकर जा रहे थे तब बैलगाड़ी से आवाज आती थी। उसका वह चीत्कार शब्द सुनकर उन्होंने विचारा—गाड़ी रो क्यों रही है? लगता है, इसके कोई रोग है, नीचे उतर कर देखना चाहिए। गाड़ी को ठहराकर वे ज्योंही नीचे उतरे, उसकी आवाज बंद हो गई। उन्होंने सोचा—यह तो पूरी मौन हो गई। लगता है, अत्यधिक पीड़ा के कारण इसकी मृत्यु हो गई है, अन्यथा एकदम चुप क्यों होती? गाड़ी के मृत्यु शोक में उन्होंने अपना चेहरा उदास बना लिया और शेष में उसका अग्नि-संस्कार कर दिया। फिर नदी किनारे स्नान करने के लिए चले गए। वे दोनों जब नदी में स्नान कर रहे थे तब घी बेचनेवाला भाई भी पानी पीने के लिए वहां आ पहुंचा। वह नदी में घुसा और हाथ-मुंह धोकर पानी पीने लगा। इतने में ही वे दोनों भाई स्नान कर उसके पास आ गए। तीनों ने परस्पर पहचान की और नदी से बाहर निकले। आपस में बात करने लगे—देखो, विद्वान लोग कभी नदी का विश्वास नहीं करते, क्योंकि शास्त्र में कहा है—

नदीनां च नखीनाञ्च शृंगिणां शस्त्रपाणिनाम्।
विश्वासो नैव कर्त्तव्यः स्त्रीषु राजकुलेषु च।।

नदी का, नख और सींगवाले पशुओं का, जिसके हाथ में शस्त्र हो उसका, स्त्री और राजा का विश्वास नहीं करना चाहिए। अतः अपने को भी संभाल लेना चाहिए। किसी को नदी ने रख तो नहीं लिया। यों सोचकर वे अपने को गिनने लगे और हर गिननेवाला कहने लगा— भाई! एक भाई गायब है। गिनती कर्ता भाई

अपने को नहीं गिनता था। एक भाई के नहीं मिलने से उन्होंने बड़ा कुहराम मचा दिया। वे जोर से रुदन करने लगे कि हमारे एक भाई को नदी ने रख लिया है। वे बार-बार गणना करने पर हर बार अपने को छोड़ देते और चीखते कि हमारे एक भाई को नदी निगल गई।

उनके विलाप-पूर्ण क्रंदन को सुनकर वहां अनेक ग्वाले इकट्ठे हो गए और उनसे पूछने लगे—तुम लोग क्यों रोते हो? क्या तुम्हारा कुछ खो गया अथवा किसी ने तुम्हें पीटा या शरीर में कोई पीड़ा पैदा हो गई है?

उन्होंने कहा—न हमें किसी ने मारा है और न हमारा कुछ गुम हुआ है। सिर्फ हमारा एक भाई नदी में डूब गया है।

ग्वालों ने पूछा—तुम कितने भाई थे? उन जड़मतियों ने जवाब दिया—हम तीन भाई थे। ग्वालों ने देखा तीनों भाई हाजिर हैं, फिर ये मूर्ख क्यों झूठा शोर करते हैं? ग्वालों ने कहा—तीनों तो विद्यमान हो। व्यर्थ ही क्यों हल्ला मचा रखा है? गिनो अपने को। उन्होंने अपने पूर्व ढंग से ही गिनती की। अपने आपको छोड़-छोड़कर गणना करने लगे। ग्वाले उनकी मूर्खता पर बड़े विस्मित हुए। उन्होंने उन तीनों को एक पंक्ति में खड़ा करके प्रत्येक की पीठ पर जोर से मारते हुए गिनना शुरू किया। संख्या तीन तक पहुंची तो वे मूर्ख बड़े प्रसन्न हुए और हाथ जोड़कर कहने लगे कि आप लोगों ने हम पर उपकार किया। एक गुमशुदा भाई को वापस मिला दिया। ग्वाले उनकी मूढ़ता पर मुस्कराते हुए अपने-अपने स्थानों पर चले गए। इधर तीनों ने भी नदीतट से सोम सेठ के घर चलने का विचार किया।

सोम सेठ के एक अत्यंत बूढ़ी दादी थी। वह जरा के आघातों से एकदम जर्जरित हो चुकी थी। उसमें उठने-बैठने की शक्ति भी नहीं रही थी। सेठ ने चौथे भाई को उसी की सेवा-शुश्रूषा का कार्य सौंपा।

वृद्धा बहुत असक्त थी। वह सारे दिन लेटी ही रहती थी। मक्खियां उसका पीछा नहीं छोड़ती थीं। चौथा भाई उसके पास बैठा उसकी मक्खियां उड़ा रहा था। वृद्धा को तनिक आराम मिलने से नींद आ गई, किंतु मक्खियां अब भी उसके मुंह पर बार-बार बैठ रही थीं। वह जिस क्षण में उड़ाता उसी क्षण में पुनः आ बैठती। मक्खियों की भिनभिनाहट से वह एकदम परेशान हो गया। उनको उड़ाते हुए उसने कहा—बस मत आना, नहीं तो मैं पूरी शिक्षा दे दूंगा। फिर मुझे दोष मत देना, पर मक्खियां उसकी बात क्या समझतीं? वे तो अपने स्वभाव के अनुसार पुनः आ गईं।

उसको एकदम गुस्सा आ गया। सोचा—ये सब मरने के ही लायक हैं। जरा भी नहीं समझतीं। वह मूसल उठा लाया और बुढ़िया के मुंह पर बैठी मक्खियों पर पूरी शक्ति से दे मारा। मक्खियां तो उड़ गईं, पर एक भयंकर चीख के साथ वृद्धा का काम भी तमाम हो गया।

चीख सुनकर सेठ आदि परिवार के लोग दौड़े आए। वहां का दृश्य देखकर सेठ ने कहा—महादुष्ट! यह क्या किया? वह घबड़ाया हुआ घिघियाता-सा बोला—मक्खियां बार-बार उड़ाने पर भी उड़ती नहीं थी, मैंने उनको शिक्षा दी है और कुछ नहीं किया।

सेठ उसकी वज्र मूर्खता पर हतप्रभ रह गया और दादी की उस कष्टमय मृत्यु के शोक में डूब गया। सब पारिवारिक लोगों को बहुत दुःख हुआ। शेष में सबने मिलकर वृद्धा का दाह-कार्य किया। सायंकाल परिजनों से घिरा शोक संतप्त सेठ बैठा था तब ये तीनों भाई भी पहुंच गए। उन्होंने भी अपनी घटनावली सुनाई।

घी वाले ने कहा—आपने ठीक कहा था। रास्ते में घी के घड़े में चोर घुस गया था। मैंने घी का घड़ा पत्थर पर पटक कर उसको मार डाला। गद्गद होकर रुआंसी आवाज में दो भाइयों ने बताया—हम गाड़ी में बैठकर चले। उसके थोड़ी देर बाद में उसके कहीं दर्द पैदा हो गया। चीं-चीं के बहाने वह बहुत देर तक रोती रही, हमने उसका दर्द देखने के लिए ज्यों ही खड़ा किया कि उसकी आवाज बंद हो गई, वह मर गई।

तीनों भाइयों की बात सुनकर सेठ ने उनकी मूर्खता पर अपना सिर धुन लिया। सेठ ने सोचा—मूसल से मक्खियां उड़ानेवाला एक ही नहीं, ये चारों ही एक-दूसरे से बढ़े-चढ़े हैं। विधाता ने इनको पूरी पटुता दी है। अक्ल के पूरे दुश्मन हैं। इनको नौकर रखने का अर्थ है थोड़े ही दिनों में घर का कल्याण करना। इनसे पिंड छुड़ाना ही अच्छा होगा।

सेठ ने उनकी थोड़ी व्यवस्था करके उन्हें विदा दे दी। चारों प्रसन्न हुए कि हमने कुछ कमाई तो की। ❑

प्रशस्तता के समीकरण आचार्य महाप्रज्ञ

डॉ. समणी सत्यप्रज्ञा

आत्मा शरीर में आकार लेती है। दुनिया में निवास करने के लिए सप्तधातुमय शरीर को तो एक अवगाहना मिलती है, आकार की सीमा के अनुरूप ही वह स्थान घेरता है, लेकिन शरीर केवल सात-धातुओं से निर्मित ही नहीं होता है, सात-धातुओं की ससीम देह से उभरता कर्तृत्व का महान शरीर व्यक्ति धारण कर सकता है। स्थूल जगत की सारी सीमाएं वहां समाप्त हो जाती हैं। कर्तृत्व-काय से उभरता यशःकाय व्यापक हो जाता है। देह से जहां दिव्यता की रश्मियां विकिरण होती हैं, तीनों लोकों के प्रकंपन वहां प्रणत हो जाते हैं। परम कारुणिक चेतना का कर्तृत्व काय और यशःकाय किसी सीमा को नहीं जानता। अनायास प्राणी मात्र के कल्याण की कामना उनका स्वभाव होता है। आचार्य श्री महाप्रज्ञजी के शब्दों में–'आचार व्यक्तिगत संपत्ति है, व्यवहार सामाजिक संपत्ति है। स्वेच्छाकृत विनम्रता व्यवहार की कसौटी है। जो सत्यशोध के प्रति विनम्र है, वही कुछ देने का अधिकारी है।' आचार्यश्री महाप्रज्ञजी एक संत-आत्मा, तेरापंथ धर्मसंघ के दशम अधिशास्ता हुए। उनके शरीर पर वस्त्र भले ही जैन साधु के रहे, पर उनकी आत्मा में हित-चिंतन मानव मात्र का ही नहीं, प्राणी मात्र का रहा और इसीलिए उनके कर्तृत्वकाय और यशःकाय को किसी आकार की सीमा में देखना भूल होगी।

गण की आत्मा

कोई भी आचार्य गण की आत्मा होता है। पूरा गण उसका शरीर होता है। इस सचाई को आचार्य श्री महाप्रज्ञजी ने न केवल अनुभव किया अपितु अपने कर्तृत्व के माध्यम से मुखर किया। दायित्व बोध के इसी तथ्य को शब्द देते हुए वे भिक्षु-गीता में कहते हैं–समीचीन आस्था, समीचीन दृष्टिकोण और समीचीन धारणा, यह त्रिपदी आचार्य के लिए सदा सम्मान्य है। सधा हुआ आत्मानुशासन, नम्र सौहार्द, वात्सल्य और परस्पर विचारों में सम्मति, सहमति अथवा ऐकमत्य–ये विशेषताएं गण की प्राण हैं। (भिक्षु-गीता 1.39-40) संघ चेतनाशील मनुष्यों का समवाय होता है। उनका कहना है–जड़ वस्तुओं को इकट्ठा करना सरल है। चेतनाशील मनुष्यों को इकट्ठा करना कठिन है–'उन्हें इकट्ठा करने के दो उपाय हैं–आस्था और अनुशासन। इस उपाय युगल के द्वारा उनका विग्रह मुक्त संग्रह करना संभंव है। गण के शरीर की रचना केवल मनुष्यों के समवाय से नहीं, कुछ विशिष्ट तत्त्वों से हुई हैं। उन तत्त्वों की ओर ध्यान करते हुए भिक्षु गीता में कहा गया–

शरीरं तस्य सम्मानं व्यवस्था चानुशासनम्।
सारणा-वारणा सेवा सहयोगः परस्परम्।।

गण के शरीर की संरचना—दूसरों को सम्मान देना, व्यवस्था-अनुशासन, सारणा (विधि)—वारणा (निषेध), सेवा और परस्पर सहयोग इन तत्त्वों से हुई हैं। गण-शरीर के संदर्भ में स्वीकृत इन तथ्यों की अभिव्यक्ति अनेकशः आचार्य श्री महाप्रज्ञ के जीवन व्यवहार से मुखर हुई है।

दूसरों को सम्मान देना

विष्णु सहस्रनाम में एक पंक्ति आती है—'अमानी मानदो मान्यः' अर्थात् स्वयं जो विनम्र रहे, अभिमान न करें दूसरों को सम्मान दे—वह मान्य होता है। महानता का महत्त्वपूर्ण लक्षण है—किसी का तिरस्कार नहीं करना, सबको उचित सम्मान देना। विनीत आत्मा ही इस महानता में प्रवेश पा सकता है। आचार्य श्री महाप्रज्ञ जी के सामने भले छोटा-सा कोई बच्चा हो या बड़े से बड़ा कोई व्यक्ति, आचार्यवर की विनम्रता सबको उचित अधिमान देती रही है। वे कहते—'विनम्रता ने उन्हें हर जगह आगे बढ़ाया है, बड़ों का सम्मान कभी विस्मृत नहीं किया।'

शिष्य ही रहूंगा

गुरुदेव श्री तुलसी द्वारा आचार्य पद के विसर्जन के बाद युवाचार्य महाप्रज्ञ आचार्यपद पर प्रतिष्ठित हो गए। आचार्य बनने के बाद भी वे जब गुरुदेव को वंदना करते, उनकी विनम्रता व शिष्यभाव गुरुदेव को भी अभिभूत कर देता। कई बार स्मितभाव से गुरुदेव फरमाते भी—'कैसे आचार्य हो? अब भी एक छोटे साधु की तरह बैठ कर विधिपूर्वक वंदना करते हो।' आचार्यवर का जवाब होता—'और सबके लिए भले आचार्य बन गया लेकिन आपके लिए तो शिष्य ही रहूंगा।' विनम्रता की भावभूमि पर आचार्यवर कभी पीछे न रहे। इसी से महानता उनका वरण करती रही।

युवाचार्य की डायरी चलाती है

आचार्यवर के संघीय संचालन व विस्तृत कार्यक्रमों में वर्तमान आचार्यश्री महाश्रमण पूरी तरह से सहयोगी रहे। आचार्य महाप्रज्ञ की विनम्रता उनको केवल सहयोगी मानने के लिए तैयार नहीं। कोई भी कार्यक्रम निर्धारित करना हो या किया गया हो— इन सभी संदर्भों का व्यवस्थित आकलन युवाचार्य श्री की डायरी में ही रहता। कोई भी व्यक्ति या संघ कुछ निवेदन के साथ आचार्यवर के चरणों में उपस्थित होता, आचार्यवर फरमाते—'सूचना तो भले यहां हो, मूल निर्धारण सारा युवाचार्य श्री के पास ही हो।' सूरत चातुर्मास में एक ही दिन में तीन शिविर थे। डॉक्टर्स के शिविर निर्धारण के संदर्भ में मुनि श्री किशनलालजी ने आचार्यवर को निवेदन तो किया, पर युवाचार्य-वर की डायरी में अंकित नहीं करवाया। फलतः जब कार्यक्रम की सूची युवाचार्यवर की ओर से सामने आई तो उसमें उस शिविर का उल्लेख नहीं था। तत्काल मुनिश्रीजी को याद किया गया। अपेक्षित जानकारी के बाद आचार्यवर ने युवाचार्य श्री की ओर इंगित करते हुए फरमाया—इनकी डायरी हमें भी चलाती है। मूल सेटिंग सारी इन्हीं के पास है। व्यवस्था के साथ जुड़ी इस निश्चिंतता से झलक रहा था तत्कालीन युवाचार्यश्री के प्रति सम्मान और बहुमान का भाव।

अमर होने के लिए

'कर्मण्येवाधिकारस्ते' के सूत्र को महाश्रमणी साध्वीप्रमुखाश्रीजी ने अपनी जीवन-साधना से परिभाषित किया है। अनवरत सृजनात्मक चिंतन करती मस्तिष्कीय नसें और उनको आकार देती अंगुलियों में थमी कलम उनकी अनुपम साहित्य-साधना की महत्त्वपूर्ण मुद्रा है।

सुदीर्घ साहित्य-साधना से महाश्रमणी जी ने गुरुदेव श्री तुलसी के साहित्य संपादन में अपना श्रम समर्पित किया है—'मेरा जीवन-मेरा दर्शन' के रूप में आचार्य तुलसी की आत्मकथा को व्यवस्थित रूप देकर उन्होंने पिपासु पाठकों को तृप्ति दी है, या कहें, उनकी प्यास को और बढ़ाया है। इस आत्मकथा के 5 भाग पहले ही प्रकाशित हो चुके थे। आगे के तीन भाग दिनांक 27-02-02 को मर्यादा महोत्सव के कार्यक्रम में महाश्रमणीजी ने पूज्यवर को भेंट किए।

महाश्रमणीजी के इस कार्य की सराहना करते हुए पूज्यप्रवर ने फरमाया—'साध्वीप्रमुखाश्री के और सारे कार्य को यदि एक ओर रहने दें, यह एक काम ही इनके अमर होने के लिए काफी है। निष्काम, निर्लिप्त, अकर्ताभाव में प्रतिष्ठित महाश्रमणीजी 'तेरा तुझको अर्पित' की भावना के साथ विनत थी श्रीचरणों में। कार्य के साथ जुड़ा पूज्यप्रवर का प्रसन्नता का भाव मूल्यांकन को प्राणवान बना रहा था।

लइया ही नहीं करती

गुरुदेव के सान्निध्य में हर क्षण प्रेरणा का स्रोत-सा बहता रहता है। इसका जब चाहे लाभ उठाया जा सकता है। उचित मूल्यांकन विकास की प्रेरणा है। आचार्यवर कोई भी कार्य कराते, उस कार्य में संभागी लोगों का श्रम गुरु-दृष्टि से कभी ओझल नहीं होता। फलतः पूरे वातावरण में अनाविल आनंद का हर क्षण दर्शन होता रहता।

प्रसंग दिनांक 5-2-02 पारलू का है। गुरुदेव के लेखन कार्य को व्यवस्थित रूप देने, संपादित करने में साध्वी श्री विश्रुतविभाजी तत्पर रही हैं। आचार्यवर ने फरमाया—'विश्रुतविभाजी लिखने आदि का कार्य करती हैं। सामान्य जन इसे साधारण काम का दर्जा दे सकते हैं। वे सोच सकते हैं—केवल लिखना ही तो करती हैं, इसमें कौन-सी बड़ी बात है? पर ये केवल लइया ही नहीं करती। लइया अर्थात् केवल लिपीकरण, जिसमें अर्थ समझना भी जरूरी नहीं होता। साध्वीश्रीजी चूंकि जिज्ञासापूर्वक आचार्यवर से पूछतीं, पूज्यवर जो फरमाते उसे लिखतीं, संयोजन की दृष्टि से ज्यादा या कम कुछ भी करना होता, तो निवेदन करतीं। एक-एक शब्द की मीमांसा भी साथ में चलती रहतीं। लेखन के बाद भी उस सामग्री को पुस्तकाकार में किस रूप में देना, प्रूफ चैक करना, इन विविध कार्यों में किनका सहयोग लेना आदि सब व्यवस्थाओं के लिए भी दिमाग लगाना होता है।' स्पष्ट है, इन सभी प्रक्रियाओं को संपादित करना आसान काम तो नहीं है। लेकिन पूज्यवर की दृष्टि में आने के बाद कठिन कुछ नहीं रहता। सब कुछ आसान बन जाता है, इसी भावना से विनत थीं साध्वीश्रीजी। गुरु कृपा का प्रसाद प्राप्त कर अभिभूत था परिकर।

आगमकोश

फरवरी 2001 में श्रीडूंगरगढ़ में पूज्यवर के सान्निध्य में आगमकोश निर्माण का कार्य चल रहा था। चेन्नई से आगत श्री गौतमजी डागा भी कोश कार्य के समय पूज्यवर के सान्निध्य में उपस्थित रहते। अपने चिंतन-सुझावों से कार्य की गति में योग देते। एक-एक शब्द का कई दृष्टियों से अवलोकन करना होता और इसीलिए एक कार्ड कई व्यक्तियों के हाथों तक पहुंचाने में श्री डागा जी का 6-7 वर्षीय छोटा लड़का भी शामिल रहता। बच्चा अपने मनोविनोद के लिए घूमने को तत्पर रहता और कार्ड को एक से दूसरे तक पहुंचाने में संवाहक का काम कर देता। उनके प्रस्थान का जब समय आया, वे गुरुदेव से मंगलपाठ सुनने आए। पूज्यवर ने बच्चे की ओर अभिमुख होते हुए पूछा—'यहां से लाडनूं जाओगे, वहां तुम्हारे मामा महाराज-धर्मेश मुनि के दर्शन करोगे, वे पूछेंगे—यहां क्या किया? तब क्या कहोगे?' बच्चा अपनी मस्ती में झूमता क्या कहता! पूज्यवर ने ही प्रश्न के साथ समाधान को स्वर देते हुए फरमाया—'कहना, मैंने भी आगमकोश का कार्य किया है। हां, काम तो किया ही है। कार्ड को इधर से उधर देना भी तो इस कार्य का अंग है।' महानता के शिखर से उभर रहे निश्छल व्यवहार से अभिभूत था उपस्थित परिकर। कृतज्ञता जीवंत बन कर प्रकृष्ट प्रेरणा दे रही थी पूरे पर्यावरण को।

महानता के शिखर पर कभी भीड़ नहीं होती। विनम्रता जब जीवनगत बनती है—क्षण-क्षण और कण-कण के प्रति एक आंदर भाव, अहोभाव अनायास उभर आता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ जी का जीवन विनम्रता का जीता जागता निदर्शन रहा। परिवेश ने जब चाहा, इसका साक्षात् किया, प्रेरणा के अनेक अंकुरों को पनपने का अवसर मिला। प्रशस्तता के समीकरण आचार्य महाप्रज्ञ का स्मृति के दस्तावेज से अवलोकन आज भी संयम की सुरभि फैलाने वाला है। ❐

बीज वटवृक्ष बन गया

आचार्य तुलसी

दृष्टि वह पारदर्शी स्फटिक है, जिसके सामने से गुजरनेवाला हर व्यक्ति अपना प्रतिबिंब वहां छोड़ देता है। बार-बार छोड़े गए बहुरूपी प्रतिबिंब एक रंग-बिरंगे गुलदस्ते के रूप में स्थिर हो जाते हैं और उनके आधार पर व्यक्ति के व्यक्तित्व का स्वाभाविक विश्लेषण होता है। महाप्रज्ञ का व्यक्तित्व भी मेरी दृष्टि में इस प्रकार से अंकित हो चुका है, जिससे लगभग पांच दशकों के संस्मरण अपनी व्यापक प्रस्तुति के लिए उतावले हो रहे हैं। उन सबका व्यक्तीकरण या लिपीकरण न तो संभव है और न अपेक्षित ही है फिर भी मेरे मन पर जिस स्थिति की अमिट छाप है, वह है–'अचिंतित रूपांतरण।' एक व्यक्ति अपने समर्पण, अपने संकल्प और अपनी साधना से कितना बदल जाता है और कहां से कहां पहुंच जाता है, इसका प्रत्यक्ष निदर्शन है हमारे महाप्रज्ञ, जिनकी इस यात्रा का प्रारंभ मुनि नथमल के रूप में होता है।

मुनि की भूमिका—विक्रम संवत 1987, शीतकाल का समय, मर्यादा महोत्सव का उल्लास और माघ शुक्ला दशमी का दिन। स्वर्गीय गुरुदेव पूज्य कालूगणी ने एक साढ़े दस वर्षीय बालक नथमल को दीक्षित कर मुझे सौंप दिया। यह सौंपना एक शैक्ष मुनि को साधु जीवन का प्रारंभिक अवबोध कराने या अध्ययन कराने की दृष्टि से ही नहीं था। इसमें निहित थी जीवन के सर्वांगीण विकास की संभावनाओं को उभार देने की एक व्यापक दृष्टि। उस दिन से लेकर अब तक मुनि नथमलजी एक समर्पित शिष्य के रूप में मेरे पास रहे और मैं भी उनके सर्वात्मना समर्पित जीवन के रेखाचित्र में अपेक्षित रंग भरता रहा। मुनि नथमलजी की ग्रहणशीलता और मेरी सृजनधर्मिता के अन्योन्याश्रित संयोग ने उनको युवाचार्य महाप्रज्ञ की भूमिका तक पहुंचा दिया, जिसकी मैंने उस समय कोई कल्पना ही नहीं की थी।

कालूगणी की कृपा—महाप्रज्ञ अपने मुनि-जीवन के प्रारंभिक वर्षों में बहुत भोले थे। इन्होंने अपने खाने-पीने, घूमने-फिरने, बैठने-सोने, पहनने-ओढ़ने आदि के संबंध में कभी सोचने-विचारने का प्रयत्न ही नहीं किया। मैं जो कुछ कहता, उसे ये सहजभाव से कर लेते। भोजन कब करना है और क्या करना है? इस दैनंदिन कार्य में ये मेरे निर्देश की प्रतीक्षा करते रहते। वस्त्र कब सिलाने हैं और कब पहनने हैं, यह काम भी ये अपने आप नहीं करते थे। शीतकाल में स्वाध्याय करते-करते बिना ही वस्त्र ओढ़े तब तक सोते रहते जब तक मैं इन्हें जगाकर वस्त्र ठीक ढंग से ओढ़ाकर नहीं सुला देता। इनकी गति भी विलक्षण थी। कालूगणी बहुत बार इन्हें अपने सामने दस-बीस कदम चलने के लिए कहते और जब ये टेढ़े-मेढ़े कदम भरते हुए गुरुदेव के निकट से गुजरते तो आपको बड़ा अच्छा लगता। कालूगणी भोले-भाले मुनियों को बहुत वात्सल्य देते थे। महाप्रज्ञ भी उन भद्र मुनियों की पंक्ति में थे, जिन्हें गुरुदेव का अतिशायी स्नेह प्राप्त था। इन्हें वे बंगू, शंभू, वल्कलचीरी, हाबू या नाथू कहकर पुकारते थे।

स्थितिपालकता—महाप्रज्ञ ने अपने सहपाठी मुनि बुद्धमल्लजी के साथ मेरे पास अध्ययन शुरू किया। इन्हें अध्ययन कराने के प्रारंभिक क्रम में मैं स्वयं इनके साथ बैठता और आधा-आधा घंटा तक इनके साथ-साथ पद्यों का उच्चारण करता था। ऐसा करने का मेरा एक ही उद्देश्य था कि इनका उच्चारण अशुद्ध न रहे। याद करने की क्षमता इनमें शुरू से ही ठीक थी, पर उस समय समझ विकसित नहीं थी। बुद्धमल्लजी इनसे अच्छा समझते थे। मेरे मन में कई बार आता था कि ये छोटी-छोटी बात को ही नहीं समझते हैं तो आगे जाकर क्या करेंगे? मैं बहुत बार इन्हें समझाने का प्रयत्न करता

पर सफलता नहीं मिली। तीन साल तक ये मुझे बराबर असफल करते रहे।

अप्रत्याशित बदलाव—महाप्रज्ञ की दीक्षा के तीन-चार साल बाद कालूगणी जोधपुर की यात्रा पर थे। वहां इनकी आंखें बहुत अधिक खराब हो गईं। पहले भी आंखों की पीड़ा कई बार हो जाती थी। कभी आंखों में दाने हो जाते, कभी आंखें दुःखने लगती, कभी कुछ और हो जाता। इनकी आंखें ठीक करने के लिए मैंने बहुत प्रयत्न किए। कभी पिप्पली, कभी नींबू का रस, कभी शहद, तो कभी कुछ, पर विशेष लाभ नहीं हुआ। उस समय गर्मी का मौसम था। कालूगणी को जसोल, बालोतरा आदि क्षेत्रों की ओर जाना था। मैंने गुरुदेव से निवेदन किया—नथमलजी की आंखें बहुत दुःख रही हैं, इन्हें यहीं छोड़ दिया जाए तो ठीक रहेगा। कालूगणी वापस पधारें तब तक ढाई महीने का समय लग गया। यह समय इनके जीवन में एक बहुत बड़े रूपांतरण का समय था। वह क्षेत्र परिपाकी क्षयोपशम था या अवस्था परिपाकी क्षयोपशम, कुछ कहा नहीं जा सकता, पर जब हम आए तो वे हमें सर्वथा बदले हुए मिले। यह बदलाव बाहर और भीतर दोनों ओर से घटित हुआ था। उस ढाई मास के छोटे से काल में इनकी समझ काफी विकसित हो गई। जो कुछ पहले का सीखा हुआ था, उसे पक्का, शुद्ध और व्यवस्थित कर लिया गया। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि ये एक अबोध शिशु की भूमिका से ऊपर उठकर आत्मबोध की भूमिका तक पहुंच गए थे।

मेरी शाला के प्रथम छात्र—नथमलजी, बुद्धमल्लजी आदि मेरी छोटी-सी पाठशाला के प्रथम छात्र थे। धीरे-धीरे छात्रों की संख्या में वृद्धि होती रही। कई मुनि उस क्रम में आए और चले गए, पर महाप्रज्ञ बराबर बने रहे। उस समय इनके बारे में मेरी यह कल्पना नहीं थी कि इनमें कोई विलक्षणता है। उस समय न तो इनमें प्रतिभा का इतना निखार था और न ही इनके बारे में ऐसी कोई संभावना थी। मेरे मन पर इनकी किसी बात का कोई प्रभाव था तो वह था इनका सहज समर्पण। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि इनके निर्माण में इनके अपने समर्पण का स्थान सर्वोपरि रहा है। जैसा कहे, वैसा करना—इस एकसूत्र ने इनको विकास की दिशा में अग्रसर किया। जोधपुर चातुर्मास के बाद मुझे भी इनसे कुछ आशा बंधी, जो उदयपुर और गंगापुर इन दो चातुर्मासों में फलित होती हुई सामने आई।

गंगापुर चातुर्मास के प्रारंभ तक ये अविच्छिन्न रूप से मेरे पास रहे। उसके बाद पूज्य गुरुदेव कालूगणी का स्वर्गवास होने के बाद मेरी स्थिति बदल गई। अब ये सेवाभावीजी की देखरेख में रहने लगे। वे इनकी संभाल पूरी करते थे, फिर भी ये अनमने-से हो गए, इन्हें अकेलापन-सा अनुभव होने लगा। इस कारण सहज ही ये उदास रहने लगे। मैंने एक दिन इनको पास बुलाकर पूछा-'तुम उदास क्यों हो?' ये बोले—'मेरा मन नहीं लगता, मैंने इन्हें आश्वस्त करते हुए कहा कि तुम मेरे पास आया करो और अपने अध्ययन के क्रम को चालू रखो। इसके बाद मैंने इनके विकास की दृष्टि से एक विशेष लक्ष्य बनाया और समय-समय पर इन्हें प्रेरणा देता रहा।

शिक्षा में नए आयाम—कालूगणी के स्वर्गवास के बाद बीकानेर चातुर्मास में मैंने दर्शन और संस्कृत काव्य साहित्य का विशेष अध्ययन शुरू किया। हम लोग (मैं, मुनि धनराजजी, मुनि चंदनमलजी आदि) पंडित रघुनंदनजी शर्मा के पास अपना अध्ययन चलाते। भाषा और व्याकरण की दृष्टि से पंडितजी का ज्ञान विशिष्ट था, पर सैद्धांतिक और दार्शनिक परिभाषाओं में वे रुक जाते। वहां हम लोग अपनी जानकारी का उपयोग करते। इस प्रकार एक मिले-जुले प्रयत्न से हमारी दर्शन के संस्कृत-ग्रंथों (प्रमाण नय तत्त्व लोकालंकार आदि) की यात्रा निर्बाध रूप से चल रही थी। उस समय मैंने महाप्रज्ञ आदि से कहा कि तुम भी अध्ययन के समय साथ रहो। कुछ समझ में आए या न आए, सुनते रहो। सुनते-सुनते एक क्रम बन गया।

वि. सं. 2001 का हमारा चातुर्मास सुजानगढ़ था। उस समय मेरे मन में आया कि हमारे धर्मसंघ में इतने साधु-साध्वियां हैं, इनमें कोई भी उच्चकोटि का चिंतक, लेखक और वक्ता नहीं है। काश! हमारे साधु-साध्वियां भी हिंदी में बोल और लिख सकते। इसी बीच शुभकरणजी दसानी ने मुझे बताया कि कुछ मुनि हिंदी में बहुत अच्छा लिखते हैं—कविताएं भी, निबंध भी, पर आपसे संकोच करते हैं, इसलिए बताते नहीं। उनमें

से महाप्रज्ञ भी एक थे। मैंने इनकी कविताओं को देखा, निबंधों को पढ़ा। प्रसन्नता हुई। इसके बाद समय-समय पर संस्कृत, हिंदी और प्राकृत भाषा में बोलने, लिखने का अभ्यास चलता रहा। यथासमय प्रतियोगिताओं का आयोजन, प्रोत्साहन और प्रेरणा ने थोड़े समय में अकल्पित सफलता का द्वार खोल दिया।

वि. सं. 2002 के राजगढ़ चातुर्मास में एक विद्वान व्यक्ति संपर्क में आया। उसने तेरापंथ के बारे में साहित्य देखना चाहा। उस समय तक साहित्य-लेखन की कोई बात ध्यान में ही नहीं थी। छोगमलजी चोपड़ा द्वारा लिखित तेरापंथ की शार्ट हिस्ट्री नामक छोटी-सी पुस्तक हमारे धर्मसंघ का साहित्य था। मुझे एक अभाव महसूस हुआ। मैंने उसी समय इनको बुलाकर कुछ टैक्स्ट तैयार करने के लिए कहा। उन्नीसवीं सदी का नया आविष्कार, धर्म और लोक-व्यवहार, अहिंसा आदि कुछ टैक्स्ट तैयार हुए। मन को थोड़ा संतोष मिला।

वि. सं. 2003 के श्रीडूंगरगढ़ चातुर्मास में धर्मदेव विद्यावाचस्पति दिल्ली से दर्शन करने आए थे। वे एक अच्छे वक्ता थे। उन्होंने अपने वक्तव्य में संस्कृत श्लोकों का धाराप्रवाह और प्रभावशाली उपयोग किया। मुझे अच्छा लगा। मैंने उसी दिन महाप्रज्ञजी आदि कुछ संतों को बुलाकर वक्तृत्व कला के विकास तथा संस्कृत में धाराप्रवाह बोलने के लिए निरंतर अभ्यास करने का संकल्प करा दिया। अभ्यास इतना व्यवस्थित और परिपक्व हुआ कि जिसकी मुझे आशा नहीं थी। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि वि. सं. 2006 तक महाप्रज्ञ इस रूप में तैयार हो गए कि हर क्षेत्र में ये मेरे सहयोगी बन गए। एक ओर ये मेरे चिंतन के सफल भाष्यकार थे तो दूसरी ओर ये मेरे हर स्वप्न को आकार देने के लिए कटिबद्ध थे। यद्यपि किसी कार्य को प्रारंभ करने में ये हिचकिचाते थे, किंतु मेरे द्वारा प्रारंभ कार्य को परिसंपन्नता तक पहुंचाना इनकी सहज प्रवृत्ति हो गई थी।

बीज का विस्तार—मेरे युग तक पहुंचते-पहुंचते अठारह-उन्नीस दशकों की लंबी अवधि पार करने पर भी तेरापंथ के सिद्धांत लोगों के गले नहीं उतर रहे थे। मैंने पाया—आचार्य भिक्षु का तत्त्व-चिंतन मौलिक है। उनकी प्ररूपणा विलक्षण है। लोगों ने अब तक भी उसकी गहराई तक पहुंचने का प्रयास नहीं किया है। यही कारण है कि वे तेरापंथ की सैद्धांतिक मान्यताओं का विरोध कर रहे हैं। यदि हम उन मान्यताओं को युगीन संदर्भ में प्रस्तुत कर सकें तो विरोधी वातावरण को ठीक करने में जो शक्ति और समय लगता है, उसका उपयोग किसी रचनात्मक काम में हो सकता है। मैंने अपने चिंतन के बीज महाप्रज्ञ के सामने विकीर्ण कर दिए। उसके बाद उन्होंने उन बीजों को विस्तार दिया। भिक्षु-विचार-दर्शन तैयार होकर आ गया। प्रबुद्ध लोगों की धारणाएं बदलीं। धीरे-धीरे विरोध का कुहरा छंट गया और सत्य का सूरज दुगुने तेज से दमकने लगा।

अणुव्रत आंदोलन को लेकर भी समाज में एक तूफान खड़ा हो गया था। इसकी क्या जरूरत है? अणुव्रत के नाम पर मिथ्यादृष्टि को सम्यक् दृष्टि बनाया जा रहा है, संत किसी आंदोलन के प्रवर्तक नहीं हो सकते, आदि अनेक मुद्दों को लेकर एक हलचल हुई थी। नए मोड़ को लेकर भी काफी बवंडर हुआ। उस संदर्भ में मैंने अपने विचार इनको बता दिए। इन्होंने उन विचारों के साथ सैद्धांतिक सामंजस्य स्थापित कर उन्हें संतुलित रूप में प्रस्तुत कर दिया। प्रसंग अणुव्रत का हो या अन्य किसी सिद्धांत का, उसे तुलनात्मक दृष्टि से, व्यावहारिक दृष्टि से और सैद्धांतिक दृष्टि से विस्तृत विवेचन के साथ प्रतिपादित कर उसका औचित्य सिद्ध कर देते। इसके बाद हमारे धर्मसंघ में जितने परिवर्तन हुए, प्राचीन धारणाओं में जितना परिमार्जन हुआ, उन सब में ये पूरे सहयोगी रहे। किसी भी परिस्थिति में मैंने इनको अपने विचारों से प्रतिकूल होते हुए नहीं देखा।

मेरे स्वप्न साकार हुए—मैं एक स्वप्नद्रष्टा हूं। मेरे ये स्वप्न रात को नींद में नहीं आते। मैं जागृत अवस्था में सपने देखता हूं। दिन हो या रात, जब भी अवकाश मिलता है, मैं नई कल्पनाएं करता हूं और उन्हें साकार करने के लिए महाप्रज्ञ को आमंत्रित कर लेता हूं। मेरी ये कल्पनाएं शिक्षा, साहित्य, शोध आदि अनेक विषयों से संबंधित हैं। मैं यहां कुछ कल्पनाओं को उल्लिखित कर रहा हूं—

वि. सं. 2007 की बात है। उस समय तक हमारे धर्मसंघ में एक लेखपत्र पर प्रत्येक साधु को प्रतिदिन हस्ताक्षर करने होते थे। लेखपत्र की धाराएं बहुत उपयोगी थीं, पर वे थीं ठेठ राजस्थानी भाषा में। भाषा युगानुरूप नहीं थी। अत: उस लेखपत्र को भाषांतरित करने की बात सूझी और वह काम इनको सौंप दिया। प्रश्न उठा कि लेखपत्र को बदलने का क्या उद्देश्य है? उद्देश्य स्पष्ट था, उसे संतों को बताकर पहले संस्कृत भाषा में लेखपत्र का रूपांतरण हुआ। बाद में उसे हिंदी में कर दिया गया और हस्ताक्षर करने के स्थान पर प्रतिदिन प्रात:काल उसका प्रत्यावर्तन करने का क्रम स्थिर कर दिया।

सामयिक साहित्य-सृजन के साथ मैंने सैद्धांतिक एवं दार्शनिक साहित्य निर्माण की अपेक्षा अनुभव की। मैंने इनके सामने अपने मन की बात रखी। इन्होंने मेरी अनुभूति को अधिक तीव्रता से अनुभव किया और काम शुरू हो गया। मैं लिखाता गया और ये लिखते गए। लिखने के बाद उसे विस्तृत और व्यवस्थित कर दिया। जैन सिद्धांत दीपिका और भिक्षु न्याय कर्णिका, ये दो ग्रंथ तैयार हो गए।

वि. सं. 2005 तक हमारे साधु-साध्वियों के अध्ययन हेतु कोई पाठ्यक्रम नहीं था। रूस की एक पत्रिका में मैंने वहां का पाठ्यक्रम देखा और तत्काल इन्हें बुलाकर कहा-'अपने यहां भी कोई निश्चित पाठ्यक्रम होना चाहिए। मेरा संकेत इनके लिए आलंबन था। कुछ ही समय में व्यवस्थित पाठ्यक्रम तैयार हो गया और साधु-साध्वियों ने उसके आधार पर अध्ययन शुरू कर दिया। समय-समय पर अपेक्षित संशोधन के साथ एक स्तरीय शिक्षा का क्रम चल पड़ा, जो अब तक चल रहा है।

महाराष्ट्र के मंछर गांव में मैं आहार के बाद धर्मदूत नामक पत्र के पन्ने पलट रहा था। सहसा मेरा ध्यान केंद्रित हो गया। वहां बौद्ध पिटकों के संपादन की सूचना थी। एक क्षण का विलंब किए बिना मैंने इनको बुला लिया और पत्र का उल्लेख करते हुए कहा–'क्या हम भी जैन आगमों का संपादन नहीं कर सकते?–नहीं क्यों...? आपकी कृपा से सब कुछ कर सकते हैं? महाप्रज्ञ के इस एक वाक्य ने मुझे आश्वस्त कर दिया। फिर भी इनके धैर्य की थाह पाने के लिए मैंने कहा–'काम तो बहुत बड़ा है। कैसे हो सकेगा?' बिना एक पल सोचे ये बोले–'ऐसी क्या बात है? आप जो चाहेंगे, वह काम हो जाएगा।'

उस समय आगम-संपादन के कार्य का न तो हमें कोई अनुभव था और न ही कोई विज्ञ व्यक्ति ही हमारे सामने था। हमने सोचा–पांच वर्ष में सारा काम हो जाएगा। उसी वर्ष काम शुरू भी कर दिया। काम करने का अनुभव जैसे-जैसे बढ़ा, हमें लगा कि यह काम पांच क्या पचास वर्षों में भी पूरा नहीं हो सकेगा। अब तो ऐसा लगता है कि काम की कोई सीमा है ही नहीं, जितना काम करते हैं उससे अधिक काम की नई संभावनाएं खुलती रहती हैं। ऐसा होने पर भी इनको काम का भार नहीं लग रहा है। बड़ी दत्तचित्तता से आगे बढ़ रहे हैं।

साधना के क्षेत्र में भी एक अभाव-सा महसूस हो रहा है। सत्तरह अठारह वर्ष पूर्व मैंने इनके सामने चर्चा की कि जैनों में कोई स्वतंत्र साधना पद्धति नहीं है। भगवान महावीर का जीवन साधना का जीवंत प्रतीक रहा है, किंतु वर्तमान में कहीं भी उसका व्यवस्थित उल्लेख या प्रयोग नहीं है। क्या मैं आशा करूं कि साधना की इस अवरुद्ध धारा को हम आगे बढ़ा सकते हैं? उस दिन से एक लक्ष्य बना। अध्ययन और प्रयोग। प्रयोग और अध्ययन, निष्कर्ष के रूप में आज 'प्रेक्षा ध्यान' की पद्धति हमारे यहां प्रचलित हो गई।

और भी अनेक घटनाएं हैं, जो महाप्रज्ञ के समर्पणभाव को उजागर करनेवाली हैं। उन सबके आधार पर यही कहा जा सकता है कि मैंने इनको जिस रूप में ढालना चाहा, ये ढलते गए। मैंने इनसे जो अपेक्षाएं कीं, ये पूरी करते गए। हमारे बीच में शिक्षक एवं विद्यार्थी का जो संबंध था, वह आगे जाकर गुरु-शिष्य के रूप में और फिर आगे चलकर अद्वैत रूप में स्थापित हो गया। अब मुझे ऐसा प्रतीत नहीं होता कि ये मुझसे भिन्न कोई व्यक्ति हैं। जब से मैंने इनमें अपना उत्तराधिकार नियोजित किया है, मैं इनमें अपना ही रूप देखता हूं। अपने ही प्रतिरूप को मैं प्रशस्ति की दृष्टि से देखूं, अपेक्षित नहीं लगता, क्योंकि इनकी प्रशस्ति मेरा अपना आत्मख्यापन होगा। इस दृष्टि से कुछ तथ्यों की प्रस्तुति का काम पूरा कर मैं अपने स्वप्न संजोने में लग रहा हूं। ❐

महाप्रज्ञ को शत-शत प्रणाम

आचार्यश्री महाप्रज्ञ जैन तेरापंथ धर्मसंघ के दशम आचार्य थे। 23 मई, 2010, सरदारशहर, चूरू (राजस्थान) में अचानक महासूर्य ने अपनी दैहिक यात्रा को पूर्ण विराम दे दिया। महाप्रज्ञ के महाप्रयाण से पूरी मानव जाति दुःख के सागर में डूब गई, पर उनके संदेश ने सबको थामा कि आदमी मरता है, पर आत्मा नहीं। मैं जा रहा हूं, पर मेरे संदेश, सपने, मेरे अनुभव सदा तुम्हें रोशनी दिखलाते रहेंगे।

महाप्रज्ञ एक नाम था अनेकांत, अहिंसा, अपरिग्रह और अभय की चेतना के विकास का। उनका प्रबल पुरुषार्थ, अटल संकल्प-शक्ति और अखंड ध्येय-निष्ठा ने उन्हें सफलता के शिखर पर पहुंचा दिया। वे आर्हत् वाङ्मय के प्रवचनकार थे। जैन आगमों के अनुसंधाता थे। प्राच्य विद्या के योगक्षेम में समर्पित थे। विद्वद् समाज के बीच हर दर्शन की उलझी गुत्थी को सुलझाने में सिद्धहस्त थे। प्रत्युत्पन्न प्रज्ञा के धनी थे। अप्रमत्तता, जागरूकता, इंद्रिय-संयमितता, पवित्रता उनकी साधुता के सुरक्षाकवच थे।

संप्रदाय विशेष से जुड़कर भी उनके निर्बंध कर्तृत्व ने राष्ट्रीय एकता और सद्भावना की दिशा में संपूर्ण राष्ट्र को संबोध दिया। अहिंसा यात्रा के सारथि बनकर मानवीय मूल्यों की गिरावट को रोकने का प्रयत्न किया। आपसी सामंजस्य बनाया। बुराइयों के विरुद्ध लड़ने की संकल्प शक्ति जगाई। सुखवाद और सुविधावाद के विरुद्ध संयम का दीया जलाया। उनका संपूर्ण जीवन मानवीय मूल्यों का सुरक्षा प्रहरी था।

आपके विचारों में जीवन का दर्शन था। प्रवचन भीतरी बदलाव की प्रेरणा थी। संवाद जीने की सीख थी। व्यवहार और निश्चय की समन्विति में उन्होंने सदा इसी सूत्र को जीया कि—'रहें भीतर, जीएं बाहर।' इसीलिए आचार्य महाप्रज्ञ अनेक उपाधियों के सौंदर्य से सजते रहे, मगर उनकी संतता हमेशा सत्यं-शिवं की तेजस्विता से दीपित रही। ग्रंथों के बीच घिरा उनका निर्ग्रंथ व्यक्तित्व था।

धर्म, दर्शन, कला, साहित्य और संस्कृति की ऐसी कोई विधा नहीं थी, जिस पर लेखनी न चलाई हो अथवा विचारों की प्रस्तुति नहीं दी हो। उनका हर शब्द संबोध बनता, हर चिंतन विकास की नई संभावनाओं पर हस्ताक्षर करता, उनका हर कर्म रोशनी के नए रास्ते दिखाता। उनके जीवन का आदि, मध्य और अंत सदैव जागती जोत बन जलता रहा। ऐसे अलौकिक व्यक्तित्व, सृजनात्मक कर्तृत्व और अहिंसक नेतृत्व को शत-शत प्रणाम।

—*मुमुक्षु शान्ता*

मेरी साधना का सूत्र-

रहें भीतर, जीएं बाहर

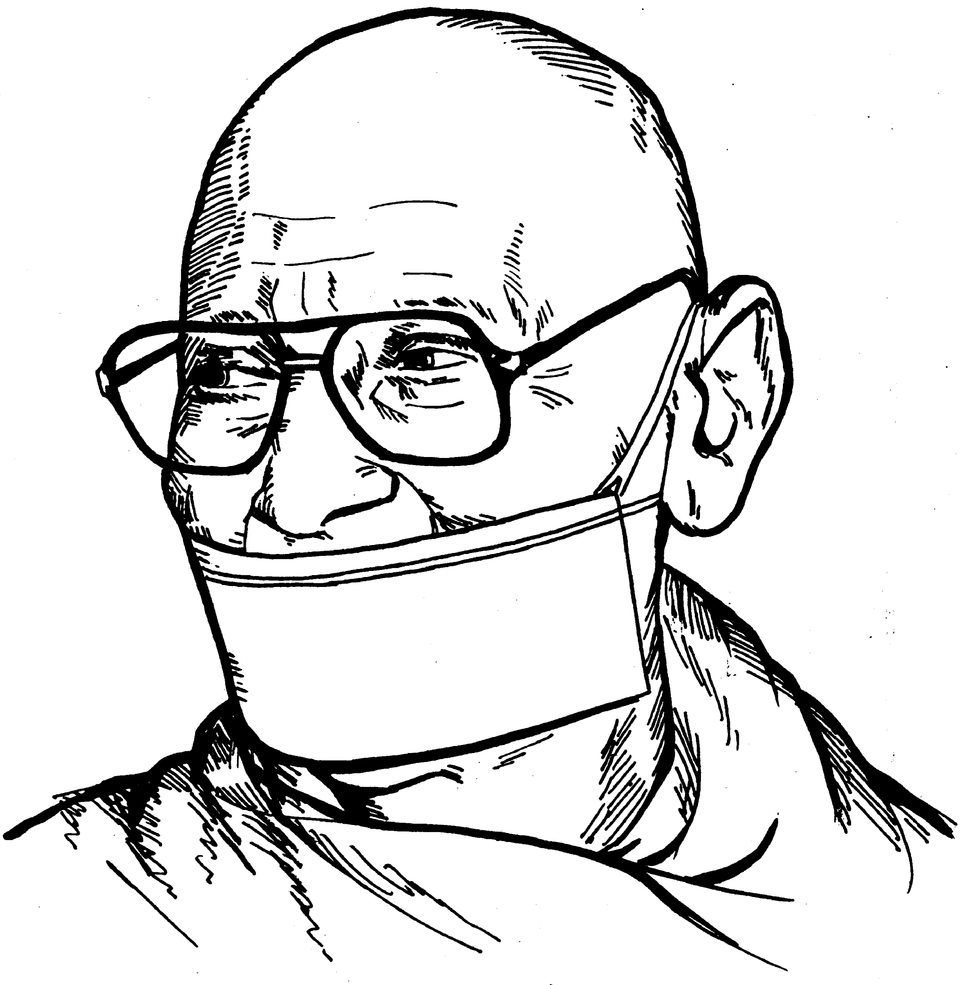

श्रद्धा प्रणति

विश्वास जागता सुबह शाम
प्रण की सरहद पर।
सदियां तुम्हें प्रणाम करेंगी
फिर मुड़ मुड़कर।।

पौरुष की जागीर तुम्हें बख्शी कुदरत ने,
ब्रह्मा ने सौगात सौंप दी चिर यौवन की।
किरणों ने अगवानी की स्वर्णिम प्रभात रच,
बनी स्वयं त्योहार जिंदगी वृंदावन की।
सब पुण्यों को मिला,
यहीं विश्राम सुखदतर।।

आदर्शों की ऊंची मीनारों के सम्मुख,
आज हिमालय बौना बन कदमों पे झुकता।
अंक हिमानी-सा शीतल करुणा से भीगा,
संसृति का उत्ताप सिमटकर छाया भरता।
थम जाता भटकाव तुम्हें,
पा मीलों चलकर।।

तेरी आंखों में सजती तकदीर वक्त की,
शब्द शब्द गीता कुरान बाइबिल का होता।
चरण तुम्हारे तीरथधाम बनें मनुज हित,
सपना बदल हकीकत में इतिहास संजोता।
अनगढ़ पत्थर बन जाता,
पूजा का मंदिर।।

समय शिलाओं पर अंकित जीवन का दर्शन,
चहुंदिशि में गायेंगी तुमको प्रणत ऋचाएं।
बांध अंधेरा मुट्ठी में ले आए सूरज,
चांद सितारे नए सृजन की फसल उगाएं।
हर सपने को मूर्त करें।
चल संकेतों पर।।

सदिया तुम्हें प्रणाम करेंगी
फिर मुड़ मुड़कर।।

— मुमुक्षु शान्ता जैन

महाश्रमण अष्टकम्

साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा

श्रेयस्करः सुखकरः सुमतिप्रदाता,
सर्वप्रियो हितकरः सुसमाधिदाता।
सत्यव्रती श्रमरतिश्च महातपस्वी,
पूतः प्रभास्वर-महाश्रमणः पुनातु।।

जो श्रेयस्कर हैं, सुख के स्रष्टा हैं, सुमति (श्रेष्ठ मति) प्रदाता हैं, सबके प्रिय हैं, हित संपादित करनेवाले हैं, समस्याओं के सम्यक् समाधायक हैं, सत्य जिनका व्रत है, श्रम जिन्हें प्रिय है, जो महातपस्वी है, ऐसे पवित्र एवं प्रभास्वर व्यक्तित्व के धारक आचार्यश्री महाश्रमण हमें पवित्र करें।

धत्ते क्षमां श्रयति मुक्तिमनाविलां वै,
पुष्णाति नित्यमृजुतां सह मार्दवेन।
जागर्त्यहो! श्रमणधर्मसुसाधनाय,
पूतः प्रभास्वर-महाश्रमणः पुनातु।।

जो क्षमाशील हैं, जिनकी अनासक्ति विशद है, ऋजुता और मृदुता पुष्ट हैं, जो सदैव श्रमण धर्म की साधना के प्रति जागरूक हैं, ऐसे पवित्र एवं प्रभास्वर व्यक्तित्व के धारक आचार्यश्री महाश्रमण हमें पवित्र करें।

स्वात्मोपलब्धिरिति लक्ष्यमिदं महीयः,
लक्ष्यं द्वितीयमनिशं खलु संघसेवा।
श्री-जैन-शासन-विकास-विवर्धना च,
पूतः प्रभास्वर-महाश्रमणः पुनातु।।

जिनके दो महान लक्ष्य हैं। पहला लक्ष्य है—आत्मोपलब्धि और दूसरा लक्ष्य है—तेरापंथ धर्मसंघ की सेवा एवं जैनशासन की श्रीवृद्धि। ऐसे पवित्र एवं प्रभास्वर व्यक्तित्व के धारक आचार्यश्री महाश्रमण हमें पवित्र करें।

कीदृग् भवेन्मुनिरयं प्रथितो हि प्रश्नः,
कल्याणभाग् मुनिरसौ मुदितः प्रमाणम्।
आदर्शरूपममलं यतिनां पुरस्तात्,
पूतः प्रभास्वर-महाश्रमणः पुनातु।।

मुनि कैसा होना चाहिए? इस संदर्भ में मुनि के मानकों की चर्चा करते हुए आचार्य श्री तुलसी ने मुनि मुदित (आचार्यश्री महाश्रमण) को प्रमाण रूप प्रस्तुत करते हुए कहा—मुनि हो तो इसके जैसा भद्र होना चाहिए। यह मुनियों के लिए विशद आदर्श रूप है, ऐसे पवित्र एवं प्रभास्वर व्यक्तित्व के धारक आचार्यश्री महाश्रमण हमें पवित्र करें।

शांतः सुनीतिकुशलो विमलो विशिष्टः,
सौभाग्य - पौरुषयुतः प्रखरः प्रवक्ता।
साम्ये स्थितः स्थिरमति-र्ध्रुवयोगयुक्तः,
पूतः प्रभास्वर-महाश्रमणः पुनातु।।

जो शांत और नीति निपुण हैं, विमल हैं, वैशिष्ट्य प्राप्त हैं, जिनके जीवन में भाग्य और पुरुषार्थ की युति है, जो प्रखर वक्ता हैं, साम्ययोगी, स्थितप्रज्ञ और ध्रुवयोग से युक्त हैं, ऐसे पवित्र एवं प्रभास्वर व्यक्तित्व के धारक आचार्यश्री महाश्रमण हमें पवित्र करें।

वर्यो विनेयनिवहे विदितो वदान्यः,
सभ्यो ऽन्तरंगसमितौ मुदितो मुमुक्षुः।
आराधको गुरुदृशः सुसमर्पितात्मा,
पूतः प्रभास्वर-महाश्रमणः पुनातु।।

मुनि मुदित जो शिष्य समुदाय में श्रेष्ठ, प्रख्यात, उदार और अंतरंग समिति के सदस्य रहे हैं, जो गुरुदृष्टि के आराधक और पूर्ण समर्पित रहे हैं, ऐसे पवित्र एवं प्रभास्वर व्यक्तित्व के धारक आचार्यश्री महाश्रमण हमें पवित्र करें।

सर्वं समीक्ष्य कुरुते प्रकृतं विलोक्य,
किं वा भविष्यति मया करणीयमस्ति।
संभावितं समुचितं प्रविलोकमानः,
पूतः प्रभास्वर-महाश्रमणः पुनातु।।

जो अपने कृतकार्य को ध्यान में रख उसकी समीक्षा करके कार्य करते हैं, जो भविष्य में मेरे लिए क्या करणीय है, इस पर दृष्टि रखते हुए समुचित संभावनाएं खोजते हैं, ऐसे पवित्र एवं प्रभास्वर व्यक्तित्व के धारक आचार्यश्री महाश्रमण हमें पवित्र करें।

गांभीर्य-धैर्यसहितोऽवहितो नितान्तः,
आध्यात्मिको मितवचा विदुषां वरेण्यः।
तेजोमयो जितभयो ननु पापभीरुः,
पूतः प्रभास्वर-महाश्रमणः पुनातु।।

जिनमें गंभीरता, धीरता जैसे विशिष्ट गुण हैं, जिनकी एकाग्रता उत्कर्ष पर है एवं जो आध्यात्मिक व्यक्तित्व के धारक हैं, जो मितभाषी एवं विद्वज्जनों में अग्रणी हैं, जो तेजस्वी, अभय और पापभीरु हैं, ऐसे पवित्र एवं प्रभास्वर व्यक्तित्व के धारक आचार्यश्री महाश्रमण हमें पवित्र करें। □

निवेदन— श्रद्धास्पद आचार्यश्री महाश्रमण के चौथे पदारोहण दिवस के उपलक्ष पर हम संकल्प करें कि **'महाश्रमण अष्टकम्'** का प्रतिदिन स्वाध्याय करेंगे।

प्रणति पंचामृत प्रदाता को

साध्वी शुभप्रभा

पदाभिषेक दिवस के पुनीत पर्व पर साधु-साध्वियों की प्रथम संगोष्ठी में आचार्यश्री महाश्रमण ने संघ के नाम अपने प्रथम उद्बोधन में पांच निष्ठाओं से निष्ठित बनने का आह्वान किया। ये निष्ठाएं हैं—आत्मनिष्ठा, आज्ञानिष्ठा, गुरुनिष्ठा, आचारनिष्ठा और मर्यादानिष्ठा। पूज्यप्रवर ने इस पंचामृत का अनुपान करने के लिए सबको अभिप्रेरित किया। बाद में भी विशेष अवसरों और दैनिक प्रवचनों में कई बार इनका उल्लेख किया।

प्रश्न उभरता है कि इतना बल क्यों?

मेरे मन की धरती पर जिज्ञासा का अंकुर उग आया कि पूज्यवर बार-बार इन निष्ठाओं पर इतना बल क्यों दे रहे हैं? चिंतन के क्षितिज से समाधान की रवि-रश्मियां प्रस्फुटित हुईं—

● पहली बात—आचार्यवर स्वयं एक साधक हैं। साधक के जीवन में इन निष्ठाओं का आविर्भाव जरूरी है, अन्यथा आत्मसाक्षात्कार का सपना सच में बदल पाना संभव नहीं है।

● दूसरी बात—तेरापंथ धर्मसंघ एक प्राणवान, तेजस्वी और प्रगतिशील धर्मसंघ है। इसकी प्राणवत्ता, तेजस्विता और गतिमयता को वृद्धिंगत करने के लिए इन निष्ठाओं से सबको अभिमंत्रित करना बहुत आवश्यक है।

● तीसरी बात—मैंने पढ़ा और सुना है कि महापुरुष वही कहते हैं जो स्वयं करते हैं, अथवा स्वयं जीते हैं। वस्तुतः ज्ञान और प्रयोग के कषोपल से नितरकर अनुभव की स्याही से जो इबारत लिखी जाती है, उसी का मूल्य बढ़ता है और वही जनोपयोगी बनती है। मैंने देखा है परमपूज्य के जीवन में ये पांचों निष्ठाएं दूध-मिसरी की तरह घुली-मिली हैं। आपश्री के तन की हर कोशिका, मन का हर परमाणु और आत्मा का हर प्रदेश इनसे अभिरंजित है। इसलिए कॅरिअर बनाने के अभिकांक्षी व्यक्ति, चाहे वह किसी भी धर्म-जाति, वर्ग, आयु एवं कार्य से संबद्ध हो, के लिए सफलता प्राप्ति के ये स्वर्णिम सूत्र भी हैं।

आत्मनिष्ठा के पैरामीटर

'अप्पणा सच्च मेसेज्जा'—स्वयं सत्य खोजो—अर्हत वाणी का यह महत्त्वपूर्ण संदेश व्यक्ति को आत्मनिष्ठ बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। साथ ही उसे यह एहसास

भी करवाता है कि स्वयं का कल्याण स्वयं के द्वारा ही संभव है। सोते और जागते वक्त उसके कर्ण-कुहरों में ये भास्वर स्वर निनादित होते हैं–

तोड़ इन बंधनों को स्वयं को तू स्वयं पा,
सुप्त अपनी चेतना को स्वयं के द्वारा जगा।
बना केंद्रित शक्तियों को प्राप्त कर अपनी प्रभा,
स्वच्छ अभ्र-विमुक्त नभ में चंद्र ज्योति सन्निभा।।

और यह आत्मनिष्ठा पनपती है चित्त की निर्मलता, घनीभूत आस्था और आचरण की शुचिता से। आचार्यश्री महाश्रमण की जीवन पोथी के पृष्ठ बताते हैं कि वे भी इस राह से गुजरे हैं। ऊहापोह के सघन जंगल से निकलकर जिस शुभ मुहूर्त में आपने यह संकल्प व्यक्त किया, निर्णय लिया कि मुझे साधु बनना है, गृहस्थ जीवन नहीं जीना है, उस क्षण ही आत्मनिष्ठा के अनगिनत गुलाबों की महक एक साथ भीतर और बाहर तक फैल गई। आत्मनिष्ठा के पैरामीटर बने–पापभीरुता, प्रामाणिकता, प्रशंसा-प्रशस्ति से बचाव, परिचय–प्रकाशन से दूर, परिग्रह मुक्त चेतना आदि। आपके अंतःकरण में आत्मनिष्ठा इतनी प्रबल है कि सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-बोलते, चलते-फिरते बस एक ही अजपाजप कि कहीं ग्राफ नीचे न चला जाए। इतनी सजगता कि उसके समक्ष शारीरिक स्वास्थ्य की बात भी गौण हो जाती है।

साथ ही आत्मनिष्ठा का भाव जागते ही बाल मुदित (आचार्य महाश्रमण) के जीवन उपवन में सकारात्मक सोच, व्यवहार में विनम्रता और स्वभाव में मैत्री के प्रसून खिल उठे। जिससे वे सबके आकर्षण के केंद्र बन गए।

आज्ञा : संयम प्राण

आचार्यश्री महाश्रमण भगवान महावीर के अनन्य उपासक हैं। वीतरागता उनका लक्ष्य है। प्रभु-वाणी उनके लिए दिशासूचक यंत्र है। आज्ञा के प्रति वे सर्वतोभावेन समर्पित हैं। उनका स्पष्ट अभिमत है–

आज्ञा ही जीवन जड़ी, आज्ञा संयम प्राण।
आज्ञा भैक्षव संघ में, सर्वोपरि प्रमाण।।

जैन आगमों में एवं भैक्षव शासन में आज्ञा शब्द का बहुत प्रयोग हुआ है। 'सड्ढी आणाए मेहावी', 'आणाए मामगं धमां'—'धर्म आज्ञा में है, अनाज्ञा में नहीं'–ये प्रेरक सूक्त आज्ञा को सर्वोपरि बहुमान देने के पक्षधर हैं।

आचार्यश्री महाश्रमण ने आज्ञा, जिसका आचारांग सूत्र में अर्थ उपलब्ध है—आगम का उपदेश अथवा श्रुतज्ञान की मनसा, वाचा, कर्मणा आराधना की है। तीन करण और तीन योग से साधना की है। वे इस कथ्य की परिक्रमा करते दिखाई देते हैं—'देव! आपकी पूजा करने की अपेक्षा आपकी आज्ञा का पालन करना अधिक श्रेयस्कर है, क्योंकि आज्ञा की आराधना मुक्ति का और उसकी विराधना भव-परिभ्रमण का कारण बनती है। इसलिए वे आज्ञा का अनुपालन करने और करवाने में भी बहुत सावचेत है। यहां एक प्रसंग प्रस्तुत करना प्रासंगिक होगा–

.....आचार्यश्री महाप्रज्ञ हिसार से विहार कर रहे थे। मार्ग में श्रद्धालुओं के अनेक घर थे। युवाचार्यश्री महाश्रमण भक्तों की भावनाओं को सम्मान देते हुए, उनके घरों का स्पर्श करते हुए आचार्यवर की सन्निधि में पधार गए। इतने में एक भाई ने निवेदन किया–'गुरुदेव! मेरा घर आपके चरण-कमलों से पुनीत नहीं हो पाया है। कृपा करके आप आदेश दें और युवाचार्यजी को भिजवाएं। 'कहां है तुम्हारा घर?' पूछने पर उसने बताया–'उस सफेद गाड़ी के पास ही है।' परम कारुणिक गुरुदेव ने सहजता से युवाचार्य को कहा–'जाओ! उस सफेद गाड़ी तक घर है तो जाकर आ जाओ।' यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोम्यहं–को चरितार्थ करते हुए युवाचार्यश्री निर्दिष्ट स्थान तक पहुंचे, पर वहां कोई घर नहीं था। पूछने पर पता चला कि घर तो आगे है। युवाचार्यश्री एक क्षण रुके। भाई को देखा और फरमाया–'मुझे आचार्यवर द्वारा गाड़ी तक आने की आज्ञा मिली थी। इसलिए अब मैं आगे नहीं जा सकता।' कदम पुनः लौटे। पूज्यवर के उपपात में पहुंचकर निवेदन किया कि मैं गाड़ी तक जाकर आ गया हूं। घर तो आगे है, इसलिए आप

अनुज्ञा प्रदान करें तो मैं उस भाई की भावना पूरी कर आऊं? सभी दर्शक विस्मय बोध से आज्ञा प्रदाता और आज्ञा प्राप्तकर्ता की ओर देख रहे थे। आज्ञा के प्रति कितना समर्पण भाव! आज्ञा को कितना बहुमान! सबके दिलो-दिमाग में एक उजली छवि सदा-सदा के लिए प्रतिष्ठित हो गई।

गुरु : गुर

भारतीय परंपरा में गुरु को भगवान से भी शीर्ष माना गया है, क्योंकि–गुरु धर्मोपदेशक होते हैं। वे ही भगवान तक पहुंचने का या भगवत्ता प्राप्त करने का मार्ग बताते हैं। सही-गलत, करणीय-अकरणीय, कृत्य-अकृत्य का बोध कराते हैं। वे स्व-प्रबंधन, समय-प्रबंधन, आवेग-संवेग प्रबंधन और क्षमता प्रबंधन के गुर सिखाते हैं। भीतर में छिपी शक्तियों और कमजोरियों से परिचित कराते हैं। ऐसे परम उपकारी, सन्मतिदाता, बोधि प्रदाता गुरु की मंगल सन्निधि जिसे उपलब्ध हो जाती है, वह शिष्य धन्यता से सराबोर हो जाता है, अहोभाव से भर जाता है तथा जीवन-नैया की पतवार को कुशल नाविक के हाथों में सौंपकर निश्चिंतता का अनुभव करता है।

आचार्यश्री महाश्रमण अत्यंत सौभाग्यशाली हैं जिन्हें एकनिष्ठ गुरु परंपरा विरासत में मिली। दो-दो महाप्रतापी आचार्यों की सन्निधि में रहने का, साधना करने का, सीखने का उन्हें मौका मिला। गुरु की नजरें टिकीं तो नजारे भी बदल गए। आपने भी सदा गुरुदृष्टि को सुख की दृष्टि माना। गुरु इंगित को समझने का हर संभव प्रयास किया। गुरु वचन को ब्रह्मवाक्य या लोह-लकीर माना। पूज्य गुरुदेवश्री तुलसी की निम्नांकित पंक्तियों से आप शत प्रतिशत सहमत हैं कि—

साधक गुरु सान्निध्य में निशदिन करे निवास,
तब ही उसकी साधना पाए सतत विकास।
गमन स्थान आसन शयन भोजन भाषण योग,
निशदिन दिनचर्या रहे, गुरु-इंगित अनुयोग।।

'इंगियागारसपन्ने' को आत्मसात करनेवाले आचार्यश्री महाश्रमण ने वही किया, जो गुरु ने चाहा। वही कहा, जो गुरु से निर्देश मिला। उसी मार्ग में कदम बढ़ाए, जिस ओर गुरु का संकेत हुआ। युगपत आचार्यों की मंगल उपनिषद में सदा जिज्ञासुभाव से भरे इस शिष्य को विनतभाव से बैठे हुए अनगिनत आंखों ने देखा है। आपका यह मंतव्य है कि सुख के समय गुरु चरणों में इसलिए उपस्थित रहें कि गुरु का मंगल आशीर्वाद प्राप्त हो और दुःख के समय इसलिए रहें कि मनोबल दुर्बल न हो। गुरु के प्रति एकलव्य-सी निष्ठा ही सफलता के सोपानों पर आरोहण करवाती है, यह कहा जाए तो अत्युक्ति नहीं होगी।

मुनि कैसा हो?

गुरु की सन्निधि शिष्य को आचारवान बनाती है। ग्रहणशील साधक 'एगप्पमुहे' बनकर पैनी नजरों से देखता रहता है कि किस कार्य को कैसे, कब, क्यों, कहां करना चाहिए? ताकि संयम की सम्यक् अनुपालना होती रहे और पापकर्म का बंध नहीं हो।

मुनि कैसा होना चाहिए? यह प्रश्न उपस्थित होने पर आचार्यश्री तुलसी ने फरमाया–'मुनि मुदित (महाश्रमण) को प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। यह यतियों के समक्ष आदर्शरूप हैं।'

'महाश्रमण अष्टकम्' में महाश्रमणी साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा ने 'महाश्रमण कैसा है?' को उत्तरित करते हुए उनकी विशिष्टताओं को रेखांकित किया है–

शांतः सुनीतिकुशलो विमलो विशिष्टः,
सौभाग्य - पौरुषयुतः प्रखरः प्रवक्ता।
साम्ये स्थितः स्थिरमति-र्ध्रुवयोगयुक्तः,
पूतः प्रभास्वर-महाश्रमणः पुनातु।।

महाश्रमण शांत हैं, सुनीतिकुशल हैं, विमल हैं, विशिष्ट हैं, भाग्य और पुरुषार्थ से युक्त हैं, प्रखर प्रवक्ता हैं, साम्ययोग में स्थित हैं, स्थिरमति हैं और ध्रुवयोगयुक्त हैं। ऐसा प्रभास्वर व्यक्तित्व ही जन-जन के आकर्षण का केंद्र बनता है।

आचार्यश्री महाश्रमण की आचारनिष्ठा बेजोड़ है। पंचाचार-ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य–की

साधना-आराधना में अहर्निश सजग हैं। उत्सर्ग और अपवाद विधि के ज्ञाता हैं। प्रासुक एषणीय और कल्पनीय वस्तु के प्रयोक्ता हैं। संघ-सम्मत आचार-मर्यादा, नियम-उपनियमों के प्रति पूर्ण सावचेत हैं। किंचित् मात्र भी वहां से इधर-उधर होना उन्हें सह्य नहीं है। मानवीय प्रकृति से परिचित हैं। दुर्बलताओं और सबलताओं से अभिज्ञ हैं, किंतु स्वीकृत आचार के प्रति लापरवाही बरतने पर आंख दिखाना भी जानते हैं और आचारनिष्ठा के साथ कार्यक्षेत्र में उतरनेवालों को प्रोत्साहित भी करते हैं। जैसे रामकृष्ण परमहंस और महात्मा गांधी को जीवंत उपनिषद कहा जाता है वैसे ही आचार्यश्री महाश्रमण जैन आचार के जीवंत रूप है, यह कथन अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं यथार्थ का परिचय-पत्र है।

मर्यादा द्वीप है

आप्त कौन होता है? जिज्ञासा के पंख को समाधान का आकाश मिला—जो यथार्थविद् और यथार्थवादी होता है, वही आप्त कहलाता है। वैसे ही आचारवान वही होता है जो मर्यादानिष्ठ होता है।

मर्यादा क्या है? अभिधान चिंतामणि कोश में मर्यादा, धारणा, स्थिति और संस्था को पर्याय माना गया है। पूज्य गुरुदेवश्री तुलसी के शब्दों में—'मर्यादा आत्मसंयम का वह द्वीप है जो आकांक्षाओं के सागर में बहते हुए मनुष्य के लिए आश्वासन है। मर्यादा वह मशाल है जो जिंदगी को जगमगा देती है। मर्यादा वह पतवार है जो जीवन की नाव को पार पहुंचा देती है। मर्यादा वह ऊष्मा है जो शीतकाल की ठंडी बयार सहने की क्षमता प्रदान करती है। मर्यादा वह रक्षाकवच है जो उच्छृंखल वृत्तियों के बाणों को भीतर घुसने से रोकती है।'

वे तो यहां तक कहते हैं—'जब-जब आदमी या संगठन ने मर्यादा का अतिक्रमण किया है, तब-तब विषपान किया है, दावानल में हाथ डाला है, आप दोनों के पथ पर कदम रखा है, अंधकार को गले लगाया है और बेभान होकर संसार में आतंक फैलाया है।

आचार्यश्री महाश्रमण शास्त्रीय और संघीय मर्यादाओं, शाश्वतिक और सामयिक संहिताओं के अनुपालन में पुरोधा पुरुष हैं। वे जानते हैं कि मर्यादा रूपी लक्ष्मण रेखा का अतिक्रमण होते ही सीता रूपी चारित्र का दुष्ट प्रवृत्तियों के रावण द्वारा हरण हो जाता है। इसलिए वे एक कदम भी बिन देखे और बिन सोचे नहीं रखते तथा साधु-साध्वियों और श्रावक-श्राविकाओं को मर्यादाओं का पालन करने के लिए आगाह करते हैं। इसलिए कि व्यक्ति और संघ की तेजस्विता, पवित्रता और वर्चस्विता दूज के चंद्रमा की तरह नित-प्रति बढ़ती रहे।

ऐसे कुशल युग-सारथि जिनका जीवन अनबोला संदेश है, को पाकर सब खुशहाल हैं और पदाभिषेक के पावन अवसर पर यह मंगल शुभाशंसा व्यक्त करती हूं कि आपश्री द्वारा प्रदत पंचामृत—आत्मनिष्ठा, आज्ञानिष्ठा, गुरुनिष्ठा, आचारनिष्ठा और मर्यादानिष्ठा का अनुपान कर हम अमृतमय बन जाएं। ❑

"तुझे बंधु-मित्र चाहिए तो ईश्वर काफी है, संगी चाहिए तो विधाता काफी है, मान-प्रतिष्ठा चाहिए तो दुनिया काफी है, सांत्वना चाहिए तो धर्म-पुस्तक काफी है, उपदेश चाहिए तो मौत की याद काफी है, और अगर मेरा यह कहना गले नहीं उतरता हो तो फिर तेरे लिए नरक काफी है।" **—हातिम हासन**

आत्मशुद्धि का उपक्रम : विनम्रता

साध्वी चित्रलेखा

कोई भी व्यक्ति जन्म से महान नहीं होता। वह अपने कर्तृत्व से ऐसे सुनहरे चित्र उकेरता है, जिससे उसकी महानता स्वतः उजागर हो जाती है। महानता कोई लबादा नहीं, जिसे जब मनचाहा तब ओढ़ लिया। इसे पाने के लिए व्यक्ति को अपनी क्षमताओं का प्रस्फोट करना पड़ता है। इस मुकाम तक पहुंचने के लिए उसे अनेक कंटकाकीर्ण पगडंडियों का सफर तय करना पड़ता है। महानता की बुनियाद को मजबूती देनेवाले तीन तत्त्व प्रमुख हैं—श्रमशीलता, विनम्रता और सहनशीलता। आचार्य महाश्रमणजी का जीवन इन गुणों का समवाय है।

पुरुषार्थ का प्रदीप

विशिष्टता प्राप्त करने के लिए श्रमनिष्ठा के सिवाय कोई दूसरा शॉर्टकट नहीं होता। आचार्यप्रवर को श्रम-निष्ठा के संस्कार गुरुपरंपरा से प्राप्त हैं। पदाभिषेक के तुरत बाद पहाड़ी प्रांत की यात्रा की उद्घोषणा इसका जीवंत साक्ष्य है। आपके श्रम की कहानी हम मेवाड़ की जुबानी सुन सकते हैं। एक दिन में पांच-पांच गांवों का स्पर्श करना एवं जनता को प्रतिबोध देना भीतरी दिव्य शक्ति का एहसास कराता है। भक्तों की भावना को साकार करने में कभी-कभी 8 कि.मी. की निर्धारित मंजिल तक पहुंचने में 15 कि.मी. का मार्ग तय कर लेते हैं। राजपथ को छोड़कर जब कभी ऊबड़-खाबड़ पथरीली पगडंडियों पर चलते तब लोगों की यादों में आचार्यतुलसी की छवि उभर आती। कोमल तन से बहते स्वेदबिंदु आपकी कर्मठता के गवाह हैं। एक दिन में करीबन 100 घरों का स्पर्श कर आपने भक्तों की भक्ति व श्रद्धा को और अधिक गहराई दे दी।

पुरुषार्थ का दीप केवल बाह्य जगत को ही प्रकाशित नहीं करता। अंतर्जगत को भी आलोकित करता रहता है। अपनी अंतरंग परिषद को जप, ध्यान, स्वाध्याय की दिशा में बार-बार अभिप्रेरित करते हैं। साधु-साध्वियों को पंच निष्ठामृत के चषक पिलाकर उनके भीतर आत्मनिष्ठा, आज्ञानिष्ठा, गुरुनिष्ठा, आचारनिष्ठा और मर्यादानिष्ठा का जज्बा पैदा करते हैं। सुबह से शाम तक प्रवचन, जनप्रतिबोध, अध्यापन, साहित्य, लेखन, आगम संपादन आदि विविध रूप में श्रम की धाराएं आपके आस-पास प्रवाहित हो रही हैं।

प्रणति में छिपी उन्नति

विनम्रता की निष्पत्ति है सफलता। विनम्रता आत्मशुद्धि का उपक्रम है। साधुता का पैरामीटर है। शिष्टता की पहचान है। अहंकार विसर्जन की प्रक्रिया है। विनम्रता तेरापंथ का सिद्ध मंत्र है। आचार्य श्री महाप्रज्ञ कहते थे—'तेरापंथ का मूल यदि कोई पूछे तो वह है विनम्रता। जिसने अपने जीवन में इसे साधा उसने अपने जीवन को स्वर्णाक्षरित कर लिया। आचार्य महाश्रमणजी ने इसी मंत्र की आराधना करके दो-दो युगप्रधान गुरुओं के दिल में स्थान बना लिया। मुनि मुदित से महाश्रमण मुनि मुदित बने। विकास यात्रा ने यहीं विराम नहीं लिया। उनमें तेरापंथ का भविष्य

झांकने लगा। विकास का ग्राफ इतना तेजी से आगे बढ़ा कि वे तेरापंथ के सर्वोच्च शिखर पर आरूढ़ हो गए।

आचार्य महाश्रमणजी की विनम्रता उस समय चरम उत्कर्ष पर पहुंच गई जब उन्होंने दायित्व की चादर ओढ़ते ही रत्नाधिक मुनियों की चरण वंदना की। उस समय युवाचार्य को लक्षित कर जयाचार्य द्वारा कथित पंक्ति जीवंत हो उठी– चरण बड़ा संतो नै बनणा आछी रीत उदारी।

उस मनमोहक दृश्य को देखकर हर्षातिरेक से लाखों नयन सजल हो उठे। हजारों श्रद्धा से प्रणत हो गए। वातावरण खुशियों से थिरक उठा। पर्यायज्येष्ठ संतों के सामने जुड़ा पाणियुगल आपकी कायिक विनम्रता के साथ भाव विनम्रता को भी द्योतित करता है।

विनम्रता का फलित है सरलता, निरभिमानिता और सहजता। आचार्यश्री के जीवन में इन तीनों विशेषताओं को एक साथ देखा जा सकता है। आचार्य तुलसी ने आपकी इन्हीं विशेषताओं को लक्षित कर कहा था—'साधु हो तो मुदित जैसा।'

सहने का उत्स साधना

भगवान महावीर ने धर्म के चार द्वार बतलाए हैं। उनमें पहला स्थान सहिष्णुता का है। जीवन में वही व्यक्ति सफल होता है, जो सहना जानता है। जीवन में उतार-चढ़ाव, अनुकूलताएं-प्रतिकूलताएं आती रहती हैं। जो व्यक्ति इनसे अप्रभावित रहता है, वही अपने लक्ष्य पर अडिग रह सकता है। सत्य का संधान एक सहिष्णु व्यक्ति के द्वारा ही संभव है। आचार्य तुलसी ने लिखा है—

सर्दी गर्मी में सम रहता,
अनु-प्रतिकूल परीषह सहता।
सुख-दुःख में संक्लेश न जिसको,
वही सत्य का अनुसंधायी।।

सत्य-संधित्सु आचार्य महाश्रमण की सहिष्णुता प्रणम्य है। मई-जून की तपती हवाएं और शरीर को कंपित करनेवाली दिसंबर-जनवरी की सर्द हवाएं आपके मन-मस्तिष्क को प्रभावित नहीं करती हैं। मौसम का मिजाज बदलता रहता है। लेकिन आप अपने निर्धारित कार्यक्रमों में सामान्यतः परिवर्तन नहीं करते। विशाल धर्मसंघ के प्रशासक होने के नाते संघीय-सामाजिक परिस्थितियों से भी रू-बरू होना पड़ता है। लेकिन सहिष्णु मनोवृत्ति की वजह से आप हर परिस्थिति के साथ सामंजस्य करके चलते हैं।

आपकी श्रमशीलता, विनम्रता और सहनशीलता ने आचार्य महाप्रज्ञ के मन को मोह लिया। आचार्य महाप्रज्ञजी के शब्दों में—मैं अपना सौभाग्य मानता हूं कि मुझे महाश्रमण जैसा उत्तराधिकारी मिला। इसकी विनम्रता एवं सहिष्णुता ने मेरे मन को आकृष्ट कर लिया है। महाश्रमण उपयोगी हैं क्योंकि इनमें श्रम-शीलता, विनम्रता एवं सहनशीलता है। ऐसे संस्कारों से अनुप्राणित महापुरुष के जन्म दिवस, दीक्षा दिवस और पट्टोत्सव/पदाभिषेक दिवस के मंगल अवसर पर शतशः नमन। ❐

''ऐश्वर्य की शोभा सुजनता है, शूरवीरता की शोभा वाक्-संयम है, ज्ञान की शोभा उपशम है, विद्या की शोभा विनय है, धन की शोभा सद्पात्र को दान करना है, तप की शोभा अक्रोध है, समर्थ की शोभा क्षमा है, धर्म की शोभा दंभहीनता है और सबकी शोभा सुशीलता है जो सभी सद्गुणों का हेतु है।'' —भर्तृहरि

वीतराग कल्प आचार्य महाश्रमण

पदमचंद पटावरी

तेरापंथ धर्मसंघ सौभाग्यशाली धर्म-संघ है। इसकी स्थापना शकुन के क्षणों में हुई और संघ के उद्घाटक परम श्रद्धेय आचार्य श्री भिक्षु की साफगोई, आचारशीलता और वीतराग प्रभु के वचनों पर परम निष्ठा से इसकी नीवों में ऐसी कुछ मजबूती बनी कि ढाई सौ वर्षों के अंतराल के बाद भी ये सभी मूल्य सर्वोपरि हैं। सार्वजनीन बने हुए हैं। उत्तरवर्ती आचार्य परंपरा के लिए धर्म और पूर्वाचार्यों की विरासत सदैव सिर-मौर बनी रही। यही कारण है कि तेरापंथ की आचार्य परंपरा ने प्रगति की इस दौड़ में कभी पीछे मुड़ने का नाम नहीं लिया वरन् हर आचार्य संघ के लिए कुछ नया ही रचते चले गए।

बीसवीं सदी में तेरापंथ धर्मसंघ की आचार्य परंपरा में दो ऐसे वर्चस्वी, महाप्रतापी आचार्यों के नाम जुड़े, जिन्हें तुलसी-महाप्रज्ञ की अमर जोड़ी बनने का गौरव प्राप्त हुआ। जब गुरुदेवश्री तुलसी और आचार्य महाप्रज्ञ की शासना चल रही थी तब दोनों ही युग प्रधान आचार्यों की पारखी नजरें अपनी अगली पीढ़ी की खोज में लीन थी। चाह को राह मिली। आपकी निगाहें एक ऐसे उदीयमान संत पर टिकीं, जिनके बहुमुखी व्यक्तित्व और संयमनिष्ठा से आपको आत्मतोष मिला, आपकी मन-मुराद पूरी हुई और एक ऐसे महान उत्तराधिकारी के मनोनयन का मार्ग प्रशस्त हो गया।

दो-दो स्वनामधन्य, विश्वविश्रुत धर्माचार्यों की महानजर और कृपा से आप्लावित तब के मुनि मुदित कुमार- आज तेरापंथ धर्मसंघ के एकादशम गणनायक, अधिशास्ता आचार्य महाश्रमण के रूप में अपनी आचार्य शासना के नए युग का शुभारंभ कर चुके हैं। इक्कीसवीं सदी भी अपने शुरुआती दौर में है। उम्र के लिहाज से 50 वर्ष के आंकड़े के करीब पहुंच कर आपने तेजस्वी धर्मसंघ की बागडोर सम्हाली है। आचार्यों की पूर्व संपदा का साया छतरी बनकर आपके मस्तक पर तना हुआ है। आपके लिए आचार्य तुलसी तो स्नेह और दुलार से यह कहते हुए सुने गए हैं कि—'ऊपर जाकर भी मैं तुम्हारी ओर झाकूंगा, तुम्हारे कर्तृत्व को आंकूंगा।'

आचार्य शासन का स्वल्प-सा समय बीता है, पर इस थोड़े से समय में आपने अपनी विलक्षणता प्रकट करते हुए

पूरे धर्मसंघ और समग्र जैन समाज व मानव जाति पर जो छाप छोड़नी शुरू की है, उसे मैं आश्चर्य से कम नहीं मानता। इस कालखंड में आपने राजस्थान प्रदेश के थली, मेवाड़, मारवाड़ के क्षेत्रों का सघन भ्रमण किया है और लोक-जीवन में अपनी आचार-निष्ठा के पदचिह्न अंकित किए हैं। भीषण गर्मी में गुजरात के कच्छ के भू-भाग को नापते हुए आपके चरण गुजरात के इस भू-भाग की परिक्रमा कर पुनः राजस्थान की धरती पर टिकेंगे जहां अगला चातुर्मास पड़ाव जैन विश्वभारती परिसर, लाडनूं में होना है।

आपकी चिंतनधारा बहुमुखी है। आप सर्वाधिक मूल्य अपने धर्मसंघ को देते हैं। आपकी निःस्पृह साधना तो यह बयां करती है कि धर्मसंघ में यद्यपि आचार्य सर्वोपरि और सर्वेसर्वा कहे जाते हैं, पर वे स्वयं को सदैव संघ से ऊपर मानने को तैयार नहीं हैं। आप कहते हैं—हमारा संघ हमारे लिए सदैव प्रमुख है। आपकी बेजोड़ संघ-निष्ठा ने आपकी कद काठी को बहुत मजबूत बना दिया है। आपका प्रयास है कि मेरे संघ में आचारशीलता बढ़े, पापभीरुता बढ़े, सामंजस्य बढ़े, वह तत्त्व दर्शन की गहराइयों को प्राप्त हो।

आगमिक ज्ञान, तत्त्व दर्शन के प्रति आपकी गहरी अभिरुचि आज से नहीं है वरन प्रारंभ से है। जब आप युवाचार्य के पद पर आसीन थे, आपने उदयपुर प्रवास में शासनश्री सरलमना वयोवृद्ध संत मुनि बालचंदजी को एक बार पूछ लिया था— मुनि श्री! आपने आगम बत्तीसी का स्वाध्याय किया है क्या? तो वृद्ध मुनिप्रवर ने आपके इंगित की गांठ बांधी। संकल्प किया, स्वाध्याय की यात्रा शुरू हुई और उस काम को पूरा किया। कहने का तात्पर्य यह है कि आप जहां स्वयं स्वाध्यायी सोच के हामी हैं वहां संघ के बाल, युवा, वृद्ध सभी वर्गों में स्वाध्याय— विशेषकर आगम स्वाध्याय को सर्वोपरि स्थान देने की इच्छा रखते हैं।

समय-प्रबंधन की दृष्टि से आचार्य महाश्रमण कुछ नए मानक गढ़ते दिखाई दे रहे हैं। एक-एक मिनट का हिसाब आपकी डायरी का हिस्सा बना हुआ है। हर व्यक्ति को मांगने पर समय देने का प्रयास होता है। भले ही समय के मिनटों का गणित छोटा हो, पर आगंतुक श्रावकों से बात कर, उनके मनोभावों को सम्मान देकर पूरा संतोष प्रदान करते हैं। सुनने की आपकी क्षमता गजब की है। हर आगंतुक को तटस्थ भाव से सुनना प्रबल धैर्य से ही संभव हो पाता है। बहुत बार हम श्रावक समय की स्वल्पता को और उसकी महत्ता को नहीं समझते और स्वयं ही अपनी गाथाएं गाते जाते हैं, आप हर बात को बिना रोक टोक के सुनने की कृपा करते हैं और अंत में संक्षिप्त में जरूरी प्रत्युत्तर और समाधान प्रदान करते हैं। आज किसी को शिकायत नहीं है कि उन्हें समय नहीं मिलता। यह भी शिकायत नहीं है कि कुछ अति विशिष्ट समझे जानेवाले श्रावक गुरुदेवश्री को अपने घेरे से मुक्त नहीं होने देते, क्योंकि उनके लिए भी समय का पूर्वनिर्धारण प्राप्त करना जरूरी हो गया है।

आपश्री की कष्ट-सहिष्णुता की साधना कभी-कभी पराकाष्ठा का अनुभव करा देती है। हमारे आचार्य कष्टसहिष्णु हैं, उनका एक-एक क्षण तपो-साधना में गुजर रहा है, वे धर्मशासन के लिए पसीना बहा रहे हैं। इससे हर श्रद्धालु श्रावक के मन में आपकी आदरणीय छवि स्थापित होती जा रही है। धर्म-संघ के साधु-साध्वियों के लिए आपश्री की कठोर साधना का अनुशासन करना लाजिमी हो गया है। श्रावक समाज में श्रावकाचार की लहर पैदा की जा रही है, कार्यकर्ता श्रावकों की सुदृढ़ पंक्ति तैयार करने का कार्य भी आपकी शुभ दृष्टि से आगे बढ़ रहा है।

वाणी पर नियंत्रण और वाणी की निरवद्यता कोई आपश्री से सीखे। एक-एक शब्द जैसे कपड़े से छन-छन कर बाहर आता है। श्रोता आपके प्रवचनों से मंत्रमुग्ध बन जाते हैं। हर प्रवचन में सार तत्त्व भरा रहता है। एक भी अकल्पनीय शब्द आपके मुखारविंद से जाने-अनजाने निकल नहीं पाता। ऐसा इसलिए संभव हुआ है कि आपने स्वयं को भीतर तक साध लिया है।

आपश्री की कोमलता और करुणा के बीच अनुशास्ता स्वरूप भी स्थापित हो रहा है। आप इतने करुणानिधान है कि अपने साधु-साध्वियों का मानसिक, शारीरिक थोड़ा-सा भी कष्ट आप से देखा नहीं जाता। उसके त्वरित समाधान की व्यवस्था करके ही आपको संतोष होता है। जहां तक आपश्री की कोमलता का प्रश्न है। मुझे स्मरण हो रहा है—जब आपश्री युवाचार्य पद पर आसीन थे तब मैंने भावुकतावश यह विनती कर दी थी—युवाचार्यवर! हमने मघवागणी को नहीं देखा, पर कहते हैं—आप मघवागणी की प्रतिकृति हैं, सरलमना हैं, सुकोमल हैं, वीतरागकल्प हैं। आपके कंधों पर भिक्षुशासन का दायित्व आनेवाला है, आपकी कोमलता आपके लिए कहीं बाधा तो नहीं बन जाएगी? उस समय तकरीबन मौन से रहनेवाले युवाचार्य के मुखारविंद से सहसा स्वर निकला—'मघवागणी का काम चल गया था ना, तो मेरा भी चल जाएगा।' निःसंदेह आपकी कोमलता और निःस्पृहता आपके आचार्य काल की विरल विशेषताएं हैं।

पूज्यश्री की निर्णायक क्षमता से समूचा संघ प्रेरित और उत्साहित हो रहा है। चोट वहीं करते हैं जहां जरूरी है और तब ही करते हैं जब नितांत अपेक्षा होती है। आपने थोड़े से समय में कुछ ऐसे निर्णय संघ को प्रदान किए हैं जिससे आपकी निर्णायक क्षमता और सोच का संघ कायल हो रहा है। तेरापंथ विकास परिषद का पुनर्गठन, अमृतसंसद का समापन, कल्याणपरिषद का उद्भव, समीक्षा परिषद की शुरुआत और कतिपय नीतिगत मुद्दों पर आपके भविष्यदर्शी चिंतन के दर्शन हो रहे हैं।

आपका हर कदम और करणीय कार्य अध्यात्म के आसपास देखा जा सकता है। सामाजिक कार्यों में दृष्टि निर्देश आप अपनी सीमा से बाहर जाकर कतई नहीं करते। मेरी दृष्टि में यह अतिमहत्त्वपूर्ण चिंतन है। समाज का अपना विस्तृत कार्य क्षेत्र है, समाज और समाज से जुड़ी संस्थाएं संघ की रीति-नीति को समझकर अपनी कार्य दिशा बनाए, ऐसा ही होना चाहिए। संघीय मूल्य-मानक, संघ की मान-मर्यादा किसी भी श्रावक से अछूती नहीं है। खासकर अग्रिम पंक्ति में बैठे लोग उससे विज्ञ हैं फिर बार-बार आचार्यों का बहुमूल्य समय क्यों बरबाद किया जाए। हम अपने आचार्यों को मानसिक कष्ट झेलने के लिए क्यों बाध्य करें। श्रावक समाज सीधे रूप से समाज से जुड़ा हुआ है। हम सभी प्रकार के पूर्वाग्रहों से ऊपर उठकर काम करें। जब-जब हमें आध्यात्मिक मार्ग-दर्शन की आवश्यकता हो, हम पूज्य श्री के आभामंडल से संपृक्त हों। दिशा-निर्देश प्राप्त कर पुनः आगे बढ़ जाएं।

आचार्य महाश्रमण तेरापंथ धर्मसंघ के ही नहीं, जैन शासन में नए इतिवृत्त की रचना करने के लिए तैयार हो चुके हैं। आचार्य श्री तुलसी जन्म शताब्दी समारोह के विराट आयोजनों की सफल संयोजना के पश्चात् आपके कदम पूर्वांचल की धरती की ओर बढ़ेंगे। आपके द्वारा उद्घोषित नेपाल, असम और पश्चिम बंगाल के चातुर्मास पड़ाव आपके सामने होंगे। किसी जैनाचार्य द्वारा विदेशी धरती पर चातुर्मास प्रवास का भी पहला ही अवसर होगा। आप संपूर्ण बिहार प्रांत, सुदूर असम के क्षेत्र, भूंटान आदि को भी अपने कदमों से मापेंगे। पूर्वांचल की धड़कन वाला सर्वाधिक सघन क्षेत्र कोलकाता आपकी प्रतीक्षा में पलक पांवड़े बिछाए तैयार होगा। आपने अहिंसा यात्रा की उद्घोषणा का बिगुल बजा दिया है। आपकी इस तूफानी यात्रा में आपके त्रिवेणी लक्ष्य होंगे—नशा मुक्त समाज, सर्वधर्म सद्भाव और ईमानदार जीवन शैली का निर्माण। पूरा राष्ट्र, पूरा समाज और धर्म-संघ उन क्षणों से रू-बरू होने की प्रतीक्षा करेगा जब एक संत पुरुष यायावर बन कर ससंघ अपनी धवल सेना के साथ भगवान महावीर सहित तीर्थंकरों की प्राणभूमि को अपनी विहार स्थली बनाएंगे।

आइए, आपश्री के पदाभिषेक के पुनीत पर्व पर हम आपके अखंड भविष्य के लिए मंगल कामना करें और समर्पण के भाव प्रकट करें। हमारे अधिशास्ता हर कदम पर विजयश्री का वरण करें। सर्वात्मना स्वस्थ रहें, दीर्घायु बनें और धर्मसंघ को अपनी अनुशासना प्रदान करते रहें। ❐

व्रत और मेरा अनुभव

अगरचंद नाहटा

इस लेख में मैं अपने जीवन में जैनधर्म में उपदिष्ट व्रत-नियमों के आचरण द्वारा कितनी सुख-सुविधा व शांति का लाभ कर सका हूं और मेरा जो कुछ बौद्धिक एवं आध्यात्मिक विकास हुआ है, उसमें उन व्रत-नियमों का कितना हाथ व महत्त्व है, इस संबंध में अपने अनुभव संक्षेप में रखूंगा।

जैन कुल में उत्पन्न होने के नाते मैं बहुत-सी अकरणीय प्रवृत्तियों से सहज ही में बच पाया। इसकी चर्चा करना आवश्यक नहीं। आवश्यक है इच्छापूर्वक जो व्रत-नियम मैंने लिए या मन में धारणाएं की, उनसे मेरे जीवन को आगे बढ़ाने में कितनी मदद मिली। मेरे वे ही अनुभव आप सबके लिए प्रेरक होंगे—ऐसा मैं मानता हूं। इसमें आत्मश्लाघा का भाव तनिक भी नहीं है, केवल अपने अनुभवों से यदि दूसरों का हित होता है, प्रेरणाएं मिलती हैं, दिशा व गति मिलती हैं तो उन्हें एकांत जनहित की बुद्धि से प्रकाशित करना आवश्यक समझ कर ही यह आलेख आप सबके सामने उपस्थित किया जा रहा है।

छुटपन में केवल पांच तिथियों को हरी नहीं खाना, रात्रि भोजन न करना, इसका नियम अपनी धुंधली स्मृति के अनुसार स्वर्गीय गुरु भ्राता श्री अभयराजजी से लिया था। वैसे सामायिक, प्रतिक्रमण, देवदर्शन व गुरुवंदन और पढ़ने व स्वाध्याय के संस्कार शुरू से ही थे, पर उनमें गति मिली संवत् 1984 की वसंत पंचमी को, जब गीतार्थ शिरोमणि खतरगच्छाचार्य जिनकृपाचंद्र सूरिजी का बीकानेर पधारना हुआ। मेरे पिताश्री व बाबाजी की उनके प्रति बड़ी श्रद्धा थी। वे हमारी कोटड़ी में ठहरे। निरंतर समागम से हमें बहुत सात्विक प्रेरणा मिली। शारीरिक अस्वस्थता के कारण तीन वर्ष तक वे बीकानेर-गंगाशहर क्षेत्र में रहे। स्थान परिवर्तन किया, पर अन्यत्र विहार न कर सके। हमारे लिए तो उनका विराजना अमृत से भी अधिक गुणकारी हुआ। इधर नित्य व्याख्यान में जाते थे तो आचार्यश्री के मुख से भगवती आदि महान ग्रंथों को सुनने का मौका मिला। उनके शिष्य सुखसागर जी ने बहुत से आगम व्याख्यान में सुनाए। इससे बहुत आगमों का सहज बोध हो गया। दोपहर में उनके पास जीव विचार, नव तत्त्व, दंडक आदि ग्रंथों का अभ्यास किया। संध्या समय रोज उनके साथ प्रतिक्रमण करते और रात को ज्ञानचर्चा होती और उनके पास जो बहुत से ग्रंथ व पत्रिकाएं आतीं, उन सबको रुचिपूर्वक पढ़ते। इससे ज्ञान का विकास हुआ, साहित्य व कला की रुचि विकसित हुई। एक तरह से हमारे आगे कहे समस्त काम का

सांचा ढल गया। अनुसंधान का काम प्रारंभ हुआ और बढ़ा। आध्यात्मिक जागृति हुई और पनपी। फिर आगे तो ये प्रवृत्तियां जीवन-संगिनी ही बन गईं। हृदय इन्हीं में रम गया। जीवन का रस इन्हीं में घनीभूत हो गया। यावत् ये प्रवृत्तियां जीवन-साधना बन गईं।

हृदय में कुछ भावनाएं थी। उन्हें प्रेरणा मिली, बल मिला। स्फूर्ति हुई कि कुछ व्रत-नियम लिए जाएं। अपने मनोविचारों को लिखकर धारणानुसार कुछ व्रत-नियम ले लिए थे। कुछ वैसे ही साधना के रूप में अपना लिए थे। इनमें से कुछ नियमों का मेरे जीवन में कितना लाभ हुआ इसी की चर्चा की जा रही है।

'सप्त व्यसन निषेध' नामक पुस्तक श्री आनंद सागरजी की लिखी हुई कई वर्ष पहले पढ़ी थी, तो उन व्यसनों के प्रति सहज ही घृणा हो गई। बार-बार उनके नामों का वह संग्रहश्लोक मस्तिष्क में चक्कर काटता रहा। आज भी उसकी स्मृति बनी हुई है—

द्यूतं च मांसं च सुरा च वेश्या, पापर्द्धि चौरी परदार-सेवा।
एतानि सप्त व्यसनानि लोके, घोरातिघोर नरके नयंति।।

भला नरक की यातनाएं भोगना किसे पसंद है? स्थूल हिंसा, मांस, मदिरा व शिकार का परित्याग तो प्रत्येक जैनी के लिए कुलाचार व संस्कार की देन है। रहा जुआ, परस्त्रीगमन व वेश्यागमन। बस, इन तीनों के लिए निश्चय कर लिया कि इनको तो जीवनभर के लिए हटा ही देना है। जुआ और वेश्या-गमन की ओर तो कभी झुकाव हुआ ही नहीं है। परस्त्री के प्रलोभन अवश्य हृदय में कभी-कभी आंदोलन करते, पर उस समय के उस निश्चय व नियम संभाले रहा। कहूंगा कि उस व्रत ने गिरते हुए गड्ढे में से मुझे बचाया। व्रत को मैं अनर्थों के कांटों से बचानेवाली एक बाड़ समझता हूं। इनके द्वारा जीवन में जो शांति व प्रतिष्ठा मिलती है, उसका मुझे खूब अनुभव हुआ। परस्त्री त्याग के व्रत से, स्त्री समाज में जो पुरुषों से भय रहता है वह दूर हो जाता है। वास्तव में उनके पतन के प्रधान कारण तो पुरुष ही होते हैं जो नानाविध प्रलोभन देते हैं और दोष देते हैं स्त्रियों को। क्योंकि समाज की बागडोर उनके हाथ में है, पर मेरा खूब अनुभव है कि थोड़े से अपवादों को छोड़कर इस अनर्थ का मूल कारण पुरुष ही है। ख़ैर, मुझे तो इस व्रत से बड़ी शांति और प्रतिष्ठा मिली। मैं सदा उसकी रक्षा के लिए स्त्रियों से कम-से-कम मिलना, बिना जरूरत कोई भी बातचीत न करना और जहां तक हो, उनके रूप-दर्शन का भी प्रयत्न कम करना, इत्यादि जो साधारण कारण थे, उन्हें अपनाए रहा और बाहरी कारणों से बचता रहा।

दूसरा महत्त्वपूर्ण नियम परिग्रह का—परिमाण का था। उससे जीवन में जो 'तृष्णा का ज्वार अशांति उत्पन्न करता है' उस पर रोकथाम लग गई। धन को अधिकाधिक बढ़ाते जाना पाप है तो फिर जान बूझकर इसके लिए सारा जीवन व्यर्थ गंवाना कोई अच्छी बात नहीं है। पैतृक संपत्ति ही अपने सुखमय जीवन बिताने के लिए काफी है तो व्यर्थ की हाय-तौबा और हाय-हाय क्यों की जाए? इस दृष्टि से वर्षभर में केवल तीन महीने कार-बार संभालने के लिए रख शेष नौ महीने का त्याग कर दिया और इस तरह शेष नौ महीने साहित्य सेवा में बिताने का सहयोग मिला और तभी इतना काम हो पाया, अन्यथा दूसरे लोगों की भांति मुझे भी रात-दिन धन बढ़ाने की चिंता सवार रहती और सारा जीवन यों ही बरबाद होता! क्योंकि तृष्णा का कोई अंत नहीं है। ज्यों-ज्यों संपत्ति बढ़ती है, तृष्णा भी त्यों-त्यों, बढ़ती जाती है। जिसके पास नहीं है वह तो बिचारा पिसता रहे तो भी एक बात है, पर सुविधाएं-साधन प्राप्त होने पर भी केवल तृष्णावश मनुष्य धन कमाने में ही लगा रहे तो दोनों में अंतर ही क्या? विवेक का तकाजा है कि कहीं तो जाकर मनुष्य संतोष करे। प्राप्त साधनों से काम चलता है तो वह अधिक बढ़ाने में न जाए।

तीसरा नियम प्रतिदिन सामायिक का था। प्रातः-काल का स्वाध्याय व संध्या प्रतिक्रमण कई वर्षों तक चलता रहा। आध्यात्मिक ग्रंथों के स्वाध्याय ने मेरे जीवन में भारी क्रांति की। भोगों से वृत्ति हटकर त्याग की ओर झुकी। तत्त्व को पाने की जिज्ञासा प्रबल हो उठी। अपनी जिज्ञासा से सब दर्शनों के तात्त्विक ग्रंथों का यथासंभव अवलोकन किया और सबका ध्येय एक

ही पाकर समन्वय और एकता की ओर अधिक झुकाव हो गया। दृष्टि संकुचितता दूर होकर उसमें विशालता व उदारता प्रविष्ट हुई। तत्त्व-विचारणा से बाहरी भेद महत्त्व के नहीं लगे। साधारण मतभेदों में उलझ जाना अच्छा नहीं प्रतीत हुआ। जैनधर्म के सभी संप्रदायों के आचार भेदों की जानकारी के लिए खंडन-मंडनात्मक जितना भी साहित्य मिला, देखता चला गया। इससे जानकारी खूब बढ़ी। खंडन-मंडन की वृत्ति समाप्त कर एकता की भूमिका उत्पन्न करने की रुचि उत्पन्न हुई। जैन संप्रदायों में जो भी मतभेद हैं उनके समाधान का रास्ता मुझे मिल गया। मैंने अवगुणग्राही दृष्टि को छोड़, गुणग्राही दृष्टि को अपनाया। प्रत्येक संप्रदाय की कौन-सी बातें अच्छी हैं व कहां-कहां खराबी आ गई हैं, इसका गंभीर विश्लेषण किया। मेरे अपने विचार अब स्थिर हो गए। ऐतिहासिक क्षेत्र में काम करने से सत्य ही मेरा उपास्य बन गया है। हर संप्रदाय में तथ्य क्या हैं, प्रत्येक क्रिया का रहस्य क्या है, इसमें कुछ मंथन किया और कैसे सारे संप्रदाय एक हो सकते हैं, इस संबंध में भी मेरे अपने विचार हैं, पर समाज में अभी उन विचारों को पचाने की क्षमता प्रतीत नहीं होती, इसलिए प्रकाशित करने में सार नहीं लगा। इस भूमिका तक पहुंचने में सामायिक के मेरे नियम ने मुझे बहुत साथ दिया। अब कुछ वर्षों से उभयकाल की सामायिक में अध्ययन ही करता हूं। प्रतिदिन पचास पेज का वाचन तो इससे सहज हो जाता है। करीब 27 वर्ष के इस स्वाध्याय काल में लाखों पृष्ठ पढ़ डालने का सौभाग्य सामायिक से ही मिला है। थोड़ा भी हो, पर नित्य का नियम बहुत ही बड़ी चीज है। नियमितता जीवन को बहुत लाभप्रद व ऊंचा उठानेवाली है। सामायिक से आत्मचिंतन और गंभीर तत्त्व विचारणा में भी बड़ी सहायता मिली है। बहुत बार पढ़ते-पढ़ते भावों का स्रोत उमड़ पड़ता है। लोग निकम्मे बैठे ही गप करके निंदा-विकथा द्वारा व्यर्थ ही कर्म-बंधन करते हैं। उन्हें देखकर मुझे बड़ी वेदना होती है। अपने चामत्कारिक सफल प्रयोग सामायिक के उपयोग करने की मैं सभी से प्रेरणा करता रहता हूं, पर लोग इसके महत्त्व को समझते नहीं। मैंने अनुभव किया है इसलिए अपने जीवन में मिले हुए महान लाभ की चर्चा आपके सामने की है।

पर्व-तिथियों के दिन पोरसी और नित्य की नवकारसी का नियम बड़ा ही लाभप्रद रहा। रात्रि के चौविहार व्रत ने कमाल का काम किया। बहुत से झंझटों से मैं दूर हो गया। अपने कामों को समय पर निबटा लेता हूं। कभी शाम के भोजन की गड़बड़ी से पाचन ठीक न हुआ तो सुबह की पोरसी तक वह स्वयं ठीक हो जाता है। हम लोगों ने अधिक बार व अधिक से अधिक खाने में ही स्वास्थ्य ठीक रहने की गलत धारणा बना रखी है। पहले का पचता नहीं, फिर ठूंस लेते हैं। रात्रि भोजन न करनेवाले का रात्रि का पाचन बहुत अच्छा हो जाता है। लोग फल और साक सब्जी के उपयोग को बहुत ही महत्त्व देते हैं। इसलिए हरी का त्याग अब नवयुवक तो स्वास्थ्य-घातक समझते हैं, पर मैंने देखा है कि स्वास्थ्य के लिए अच्छा प्रयोग है नियमित समय पर खाना, अगला खाना पचने पर खाना। जीभ की स्वादिष्टता-वश बहुत प्रकार की वस्तुओं को न खाकर स्वास्थ्य के अनुकूल सीमित पदार्थों को खाना और अधिक ठूंस कर न खाना स्वास्थ्य के लिए इतना ही काफी है। मैंने इन नियमों का बहुत कुछ पालन किया है अतः मुझे अपने स्वास्थ्य के प्रति कभी कोई शिकायत नहीं रही। नियमित समय पर व सीमित पदार्थों के खाने से पेट दुःखना, दस्त लगना, अपच होना, वमन होना, जी-मिचलाना और अजीर्णता से जो अनेक रोग उत्पन्न होते हैं–उनका मुझे सामना नहीं करना पड़ा है। अपने व्रत-नियमों की अब अधिक चर्चा नहीं करूंगा। आध्यात्मिक उन्नति की दृष्टि से, स्वास्थ्य की दृष्टि से, समाज में प्रतिष्ठा की दृष्टि से मुझे बड़ा लाभ मिला। अब मैं अपने व्रती भाइयों को कुछ सूचना देना आवश्यक समझता हूं–

(1) सबसे पहले अनावश्यक प्रवृत्तियों से हटिए। आप विचार करने लगेंगे तो आपके जीवन का बहुमूल्य समय इन्हीं में नष्ट होता हुआ प्रतीत होगा। श्रावक के 12 व्रतों में 8वां व्रत अनर्थ दंड का है। आप जरा गहराई से उस पर विचार करें। जीवन धारण करने के

लिए अनिवार्य आवश्यकताएं वास्तव में बहुत ही थोड़ी हैं। बहुत-सी प्रवृत्तियां तो अविचार व अविवेक के कारण अनावश्यक ही होती है। कुछ बुरी आदतें पड़ जाती हैं। कुछ दूसरों के अनुकरण में की जाती हैं। कुछ निकम्मे रहने और बेकारी का उन्माद है। इसका सबसे अच्छा उपाय जो मैंने अनुभव किया है वह यह कि कोई अच्छी प्रवृत्ति को अपना लीजिए व अधिक से अधिक समय देकर उसमें रम जाइए। तब अनावश्यक कार्यों के लिए आपको अवकाश ही नहीं रहेगा। काम का औषध काम है। शक्ति वही है जिस ओर लगाएं, लग जाएगी। अच्छे में लगी रहने से बुराई की ओर अपने आप नहीं जाएगी।

आवश्यकताएं कौन-सी व्यर्थ हैं, इसकी चैकिंग करने का एक सरल उपाय है कि जिनकी आवश्यकताएं कम से कम हों, उनके जीवन पर विचार करिए। उनका जब इन बातों, कार्यों व साधनों के बिना काम चल जाता है तो अपना क्यों नहीं चलेगा? एक गरीब बीस-तीस रुपए दिन में अपने व अपने परिवार का निर्वाह कर लेता है और आप सैकड़ों और हजारों खर्च करके भी संतोष का अनुभव नहीं करते? इसका कारण यही है कि आपने अनावश्यक को आवश्यकता मान रखा है। उनको अनुचित बढ़ावा दे रखा है।

जैनाचार्यों ने सप्तम व्रत में भोगोपभोग के परिमाण का विधान किया है। उसमें चौदह नियमों को प्रतिदिन सुबह और शाम चितारने की जो विधि रखी है, सो बहुत ही महत्त्व की है। इससे आप अपनी आवश्यकताओं को भली-भांति चैक कर सकते हैं और नियम में रहने का अभ्यास दृढ़ हो जाता है। सभी वस्तुओं का आप परिमाण कर लेते हैं और शाम को फिर उन नियमों को चितारते हैं यानी स्मरण करके देखते हैं कि उनमें से किन-किन का कितना प्रयोग हुआ। रात को आवश्यकताएं और भी कम रहती हैं और दूसरे दिन पहले दिन के उपयोग व भोगोपभोग के अनुसार ही प्रमाण रखा जाता है। इस तरह बहुत ही सहज में आप जीवन को संयमित बना सकते हैं।

(2) आजकल उपवास आदि तपस्याएं तो बहुत होती हैं, पर उनसे जो आध्यात्मिक विकास होना चाहिए, वह नजर नहीं आता है। इसके कारणों को ढूंढ़िए। सबसे बड़ी कमी जो मुझे लगी, वह यह है कि तप के साथ संयम का सुमेल नहीं। आजकल तप किया जाता है, पर संयम की ओर उतना ध्यान नहीं रखा जाता है। श्रावकों के लिए, जैसा कि मैंने अपने अध्ययन से देखा है, पौषधोपवास नामक ग्यारहवां व्रत रखा गया है। मुनि तो पूर्ण संयमी होते ही हैं, इसलिए उनके तप का तो संयम के साथ मेल होता है, पर उसमें एक कमी रहती है। वह है तप के उद्देश्य और मर्यादा की उपेक्षा। तप का उद्देश्य है इच्छाओं का निरोध। इच्छाओं पर अंकुश लगते-लगते किसी भी प्रकार की इच्छा, आशा, आकांक्षा, वासना, कामना रहे ही नहीं, इसी की साधना के लिए जप किया जाता है। दूसरी बात यह है कि तप वहीं तक करना चाहिए जहां तक भावना की वृद्धि हो। जब कषाय उदय होने लगे और भावनाएं सूख जाएं, फिर तप करते रहने में मजा नहीं। आत्मा का स्वभाव अनाहारी है। पुद्‌गल पिंड रूप आहार का ग्रहण अपवाद मार्ग है। शरीर को टिकाए रखना संयम की साधना के लिए है। संयम की साधना कषायों पर विजय प्राप्त करने के लिए है। निमित्त मिलते हैं, उसी के अनुरूप ढल जाती है। इसीलिए संयोगों को बंध का कारण माना है। बाह्य बुरे निमित्त दूर रहने का यही कारण है। तप करते हुए हमें इसका खूब ध्यान रखना है।

मेरी राय में श्रावक-श्राविकाएं उपवास आदि जो भी तप करें, वे पौषध के साथ करें। तप भी करती रहें और गृह कार्यों में फंसी रहें, आश्रव द्वार खुला रहे तो निर्जरा का काम मंद पड़ जाएगा। वह उतनी फलीभूत नहीं होगी। इसलिए जिस दिन तप करना हो उस दिन जीवन पूर्ण संयमित रहे। स्वाध्याय, ध्यान, भक्ति द्वारा धर्म की पुष्टि हो, यही पौषधोपवास व्रत है।

वर्तमान जैन समाज में बाह्य तपश्चर्या पर जितना ध्यान दिया जाता है, उतना आभ्यंतर पर नहीं। वैसे आभ्यंतर तप आत्मोत्थान का सरल एवं सुगम उपाय है।

उस ओर शीघ्र ध्यान देकर मुनि-महाराजों को उसके लिए प्रेरणात्मक उपदेश देना चाहिए और श्रावक-श्राविकाओं को भी उनको अपनाना चाहिए। आभ्यंतर तप छः प्रकार के हैं। किए हुए पापों की आलोचना करना—प्रायश्चित्त गुणी व्यक्तियों का विनय करना, वैयावृत्य करना, स्वाध्याय करना, धर्म-ध्यान, शुक्ल ध्यान ध्याना व कायोत्सर्ग करना।

ध्यान की प्रणाली जैन समाज में प्रायः उठ-सी गई है। इससे आध्यात्मिक विकास में बहुत ही हानि हुई है। ध्यान संबंधी बौद्ध साहित्य काफी अच्छा है और आज भी उनमें ध्यान की अनेक प्रकार की प्रणालियां प्रचलित हैं। जैन मनीषियों का कर्तव्य है कि इस महत्त्वपूर्ण तप को अधिकाधिक अपनाएं। गत शताब्दियों में जो मौलिक चिंतन बहुत ही कम हुआ है, इसका प्रधान कारण ध्यान करना छोड़ देना ही है।

इसी प्रकार स्वाध्याय नामक आभ्यंतर तप ज्ञान के विकास का प्रधान कारण है। हमारे मुनियों के लिए तो आगमों में प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, द्वितीय प्रहर में ध्यान का विधान है। केवल आहारादि के लिए एक प्रहर व निद्रादि के लिए एक प्रहर—इन दो प्रहरों को छोड़ छः प्रहर तो क्रमशः निरंतर स्वाध्याय व ध्यान चलते रहना चाहिए। स्वाध्याय के अभाव में हमें अपने सिद्धांतों का भी पूरा ज्ञान नहीं, तो अन्य दर्शन आदि का ज्ञान तो हो ही कैसे? निंदा व विकथा में जो हमारा समय बर्बाद होता है उसे स्वाध्याय में लगाना आवश्यक है। कम से कम उभयकाल की सामायिक में तो नियमित स्वाध्याय होना चाहिए। दिगंबर समाज में स्वाध्याय का अच्छा प्रचार रहा, इसलिए उनके श्रावक व श्राविकाएं श्वेतांबरों की अपेक्षा ज्ञान में अधिक विकसित हैं।

व्रतों का उद्देश्य है जीवन को संयमित और नियमित बनाना। बुरे कामों से विरत होना व अच्छे कामों में लगना। जैन धर्म में विरति अर्थात् त्याग भावना का बहुत ही महत्त्व है। चाहे भोगोपभोग कम ही हो, पर अविरति के कारण चौदह रज्जुलोक की क्रियाएं लगती हैं, ऐसा कहा जाता है, क्योंकि हमारी इच्छाएं खुली रहती हैं। व्रत व नियम के द्वारा सीमित कार्यों के अतिरिक्त सभी से हमारा संबंध कट जाता है। भगवती सूत्र में कहा गया है—एक व्यक्ति मरते समय यदि त्याग नहीं करता तो उसके संग्रहित व निर्मापित वस्तुओं से जो भी प्रवृत्तियां होंगी, उसका आंशिक दोष उसे लगता रहेगा और त्याग कर देने पर उस दोष से वह बच जाएगा। कर्म बंध के चार या पांच कारणों में मिथ्यात्व के बाद ही अविरति का स्थान है। इसलिए हर समझदार व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह अपनी इच्छाओं पर नियंत्रण करे, अपनी भावनाओं को रोके।

दूसरे प्राणियों से जुदा मनुष्य की यही विशेषता है कि वह गंभीर विचार कर सकता है और संयम और त्याग के द्वारा आध्यात्मिक मार्ग में आगे से आगे बढ़ सकता है। मनुष्य जन्म के बिना किसी गति में मोक्ष नहीं है।

व्रतों को ग्रहण करने में खुला विचरता हुआ मन एकबारगी हिचकिचाता अवश्य है और उनके पालन में भी कठिनाइयां अवश्य आती हैं, पर अभ्यास के द्वारा दुर्गम सुगम हो जाता है—कठिन सरल हो जाता है। इसके लिए मनोबल को दृढ़ करने की आवश्यकता होती है। वैसे किसी भी अच्छे काम के लिए दृढ़ मनोबल की आवश्यकता होगी ही। कठिनाइयों से घबराना कायरता है। कठिनाइयां हमारी परीक्षा का प्रसंग है। इसमें फेल होने से आगे बढ़ना रुक जाएगा।

व्रत लेने का उद्देश्य है पापों की ओर जाते हुए योगों को रोकना। पहले तो यह कार्य प्रयत्नपूर्वक करना पड़ता है, पर अभ्यास के द्वारा फिर वह सहज स्वभाव-सा बन जाता है। व्रतों की सार्थकता इसी में है कि हमारी प्रवृत्ति स्वाभाविक रूप से ही असत् कार्यों की ओर न हो, जिससे हम अपनी शक्ति व साधनों को अधिकाधिक अच्छे कार्यों में लगा सकें। हम जीवन में नियमितता लाएं और क्षणमात्र भी प्रमाद न करते हुए उसका सदुपयोग करें। व्रत हमारे स्वभाव बन जाएं। व्रतों से जीवन में आनंद, शांति व संतोष प्राप्त हो। ❒

अति भोगवाद से उत्पन्न समस्याएं

डॉ. हीरालाल छाजेड़

आधुनिक अर्थशास्त्र का मौलिक आधार है माल की खपत। मनुष्य की अति भोगवादी संस्कृति ने खपत को बढ़ावा भी दिया है और दुनिया में अनेक संकट भी पैदा किए हैं, जिन पर हम इन पंक्तियों में चर्चा करेंगे।

पर्यावरण :

अति भोगवाद से उत्पन्न अधिक खपत और अधिक उत्पादन। अधिक उत्पादन के लिए औद्योगिकीकरण की आवश्यकता पड़ती है जो कि पर्यावरण के संतुलन को बिगाड़ने में सहयोगी बनता है। औद्योगिकीकरण विकास व प्रगति के लिए अच्छा भी माना जाता है, किंतु उसकी एक मर्यादा या सीमा आवश्यक है। सभी व्यक्ति उन्नति व विकास पसंद करते हैं, किंतु विकास के साथ आवश्यक है संतुलन। जिस प्रकार शरीर में वात, पित्त और कफ का जब तक संतुलन है, तब तक व्यक्ति की शारीरिक स्वस्थता प्रशस्त है। पर्यावरण की सुरक्षा, शुद्धता, विकास स्वस्थता का एक अंग है। पर्यावरण प्रदूषित होने का एक प्रमुख कारण है औद्योगिकीकरण व उसके निमित्त वनों की कटाई। परिणाम है ग्लोबल वार्मिंग से उत्पन्न पर्यावरणीय-क्षति।

शारीरिक व मानसिक रोग :

भोग की अधिकता स्वास्थ्य की न्यूनता का कारण बनती है। भौतिक वस्तुओं के भोग से मनुष्य को सुविधा प्राप्त होती है, पर सुख नहीं। आरामदायक पलंग सुविधा तो दे सकता है, पर नींद नहीं दे सकता, उसके लिए नींद की गोली खानी पड़ती है। अधिक आरामप्रद वस्तुएं शारीरिक श्रम को कम कर देती है व मानसिक श्रम व तनाव को बढ़ा देती है। व्यक्ति अधिक से अधिक पाने की असीम लालसा लिए दिन-रात उसी में लगा रहता है। एक इच्छा की पूर्ति करता है कि दूसरे क्षण मन के किसी कोने में दूसरी तमन्ना कुलबुलाने लगती है और इसी भोगवाद से उत्पन्न इच्छाओं की पूर्ति में अपनी पूरी जिंदगी समाप्त कर देता है, फिर भी आकाश छूती लालसा का कोई अंत दिखलाई नहीं देता है।

इच्छाओं का विस्तार साधनों की अशुद्धता :

अति भोगवादी संस्कृति ने भ्रष्टाचार को पनपने का बहुत बड़ा अवसर दिया है। रोटी-कपड़ा और मकान जीवन की मूलभूत आवश्यकता हैं, किंतु आज के युग में भौतिकवादी विलासितापूर्ण सामग्री की बाजारों में बाढ़-सी आ गई है, जिसे पाने की सभी में होड़-सी लगी है, कोई पीछे नहीं रहना चाहता है। खरीदने के लिए धन की आवश्यकता होती है। धन कमाने के साधन फिर चाहे अशुद्ध हो या शुद्ध उसकी परवाह किए बिना अपनी कामना की पूर्ति के लिए वह बड़े से बड़े घोटालों में लिप्त होने में कोई संकोच नहीं करता। आज देश में एक से एक बड़े घोटालों का क्रम प्रतिदिन की न्यूज में देखने-सुनने को मिलता है। जब तक इच्छाओं, आकांक्षाओं पर विराम नहीं लगेगा भ्रष्टाचार रूपी घोटाले जीवित रहेंगे।

भोगवाद से उत्पन्न विलासितापूर्ण जीवनशैली में धन जो आसानी से बिना ज्यादा श्रम के प्राप्त होता है—साथ में विकृतियां भी लाता है। व्यक्ति अनेक प्रकार के शौक पाल लेता है उसकी चाहत यथा रात्रि में पंच सितारा होटलों में डिस्को, शराब-शबाब, अमर्यादित आचरण व खान-पान की रहती है। परिणाम में अनेक प्रकार के रोग घेर लेते हैं। विलासितापूर्ण जीवनशैली जो प्रारंभ में उन्हें खुशी व आनंद प्रदान करनेवाली लगती है, इसका फल बहुत दुःखदायी होता है।

आज विश्व आर्थिक मंदी के भयानक दौर से गुजर रहा है। सभी विकसित राष्ट्र अपनी औद्योगिक इकाइयों को जीवित रखने की लालसा में विकासशील देशों में लोगों को उपभोग्य सामग्री खरीदने के लिए तरह-तरह के आकर्षक विज्ञापनों के द्वारा आकर्षित करने का पूरा प्रयास कर रहे हैं, जो कि भोगवाद को बढ़ावा देने के लिए आग में घी डालने का कार्य करते हैं। इस कार्य में अनेक देशों की बड़ी-बड़ी कंपनियों में प्रतिस्पर्धा होती है कि कौन कितना ग्राहक को लुभाकर अपना ब्रांड बाजार में बेच सकता है और लाभ कमाकर अपने कारोबार को फैला सकता है।

भारतीय संस्कृति धर्मप्रधान संस्कृति रही है। प्रायः सभी धर्मों में अति भोगवाद का निषेध है। जैन धर्म कहता है कि इच्छाओं का अल्पीकरण करो। भौतिक सामग्रियों की कोई सीमा नहीं अतः, अपने मन पर नियंत्रण करने की बात करता है। हिंदू या वैदिक धर्म के अनुसार अर्थ का संपादन धर्म के अनुकूल करो।

भोग से सुखदायी अथवा दुःखदायी की बात अंतर्मन में दिखाई देती है। मनुष्य की चेतना के दो स्तर होते हैं। चेतन अवस्था और अवचेतन मन। भोग में डूबा हुआ व्यक्ति भी अपने अवचेतन मन में सोचता रहता है, अमुक कार्य मेरे लिए हेय या उपादेय है, किंतु भोग का वलय उस पर इतना गहरा चढ़ा हुआ रहता है कि अवचेतन मन बेचारा कुछ कर नहीं पाता। अति भोगवाद को मिटाने के लिए एकमात्र उपाय है व्यक्ति अपने अवचेतन मन की बात सुन उसको सक्रिय करे और इच्छाओं का अल्पीकरण करे।

विश्व में बढ़ती भोगवादी संस्कृति से बचने के लिए भगवान महावीर की वाणी का व्यापक रूप सामने आया 'त्याग व संयम' यानी इच्छाओं पर नियंत्रण। तभी अनेक समस्याओं से बचा जा सकेगा अन्यथा अगर इसी प्रकार औद्योगिकीकरण का दौर बढ़ता गया और बेतहाशा भोगवाद पनपता रहा तो ग्लोबल वार्मिंग, पर्यावरण प्रदूषण से उत्पन्न समस्याएं बढ़ती रहेंगी जिसका खमियाजा आनेवाली पीढ़ी को भुगतना पड़ेगा, जिसे कोई रोक नहीं पाएगा। ☐

सूचना

उपासक प्रवेश परीक्षा एवं प्रशिक्षण शिविर

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा के तत्त्वावधान में पूज्यप्रवर के पावन सान्निध्य में उपासक प्रशिक्षण शिविर का आयोजन आगामी 27 जुलाई से 5 अगस्त 2013 तक लाडनूं (राजस्थान) में होना है।

प्रवेश परीक्षा–शिविर से पूर्व प्रवेश परीक्षा का आयोजन 27 जुलाई को मध्याह्न 1.00 बजे होगा। कृपया ध्यान दें कि इस बार प्रवेश परीक्षा के पाठ्यक्रम में कुछ परिवर्तन हो रहा है।

प्रवेश परीक्षा का पाठ्यक्रम–(1) परमेष्ठी, (2) अर्हत वंदना, (3) पंचपद वंदना, (4) पचीस बोल, (5) श्रावक प्रतिक्रमण–इन सबको कंठस्थ करना। इस कंठस्थ ज्ञान के साथ-साथ जैन तत्त्व दर्शन पर आधारित कुछ मुख्य अंशों का संक्षिप्त संकलन तैयार किया गया है। इसके आधार पर प्रवेश परीक्षा में प्रश्न पूछे जा सकते हैं। अतः इसका समुचित अध्ययन प्रवेश परीक्षा की तैयारी हेतु अपेक्षित और उपयोगी है।

यह 'संक्षिप्त संकलन' सभी सभाओं में एवं उपासक-उपासिकाओं को प्रेषित किया गया है। उपासक बनने के इच्छुक भाई-बहिन अपनी स्थानीय सभा से इसे प्राप्त कर सकते हैं अथवा महासभा से संपर्क करके प्राप्त किया जा सकता है।

इस बारे में अधिक जानकारी हेतु उपासक श्रेणी के राष्ट्रीय संयोजक श्री डालिमचंद नौलखा, अहमदाबाद– 09327071376 एवं सहसंयोजक श्री महावीर प्रताप दुगड़, कोलकाता– 09331019455 से संपर्क करें।

निवेदक

अध्यक्ष : **हीरालाल मालू** *महामंत्री* : **विनोद कुमार चोरड़िया**

गतांक से आगे...

माया महाठगिनी हम जानी

नीरज जैन

माया का स्वरूप

श्रीमद्भागवत् की धारा में और रामायण आदि ग्रंथों में भी दो प्रकार की माया की चर्चा की गई है। एक ईश्वरीय माया या प्राकृतिक माया और दूसरी जीवकृत माया या 'मन की माया।' ये व्याख्याएं करते समय यह तथ्य स्पष्ट रूप से रेखांकित किया गया है कि ईश्वरीय या प्राकृतिक माया जीव के सुख-दुःख का साक्षात् कारण नहीं है। जीव के सुख-दुःख का कारण, उसकी स्वतः सर्जित जीवकृत माया ही है। यही उसके पुण्य-पाप की जड़ है।

रामचरितमानस में गोस्वामीजी ने स्वयं भगवान राम के मुख से माया का स्वरूप कहलवाया है। विश्व की जटिल व्यवस्था की ऐसी सरल व्याख्या शायद अन्यत्र नहीं ढूंढ़ी जा सकेगी। एक ही चौपाई में महाकवि ने वह रहस्य प्रभु के मुंह से उद्घाटित करा दिया है—

मैं अरु मोर, तोर तैं, माया,
एहि बस कीन्हे जीव निकाया।
गो-गोचर, जहं लग मन जाई,
सो सब माया जानेहु भाई।।

इन पंक्तियों का अर्थ बहुत सरल है—'जीव ने संसार में दूसरे जीवों के साथ, या जड़ पदार्थों के साथ मैं और मेरे का तथा तू और तेरे का जो संबंध गढ़ लिया है, वही वास्तविक माया है। सृष्टि के समस्त जीव उन्हीं स्व-फलित संबंधों की मान्यता के कारण दुःखी हो रहे हैं और अपने भविष्य के लिए भी संक्लेशों का सृजन कर रहे हैं। जो भी हमारी इंद्रियों को सुहाता है और हमारे मन को भाता है, वही सब तो माया है।' यह अंतहीन सिलसिला अनादिकाल से चल रहा है और अनंतकाल तक चल सकता है।

आर्षवाणी में भी यह बार-बार कहा गया है कि मन से बड़ा मनुष्य का कोई मित्र नहीं है। मन को साधकर ही मनुष्य नर से नारायण बनने का प्रयत्न कर सकता है। दूसरी ओर मन से बड़ा मनुष्य का कोई शत्रु भी नहीं है, क्योंकि मन की विकृति ही उसे बड़ी विपदाओं में डाल सकती है। मन के माध्यम से बंध और मोक्ष दोनों साधे जा सकते हैं।

कबीर ने कहा—'माया तो मन से ही उत्पन्न होती है। सत, रज और तम—इन गुणों में माया का विलास है। पृथ्वी और जल आदि पंच तत्त्वों के स्वरूप में जीव को उलझाने वाली यह मन की माया ही है—

मन ते माया ऊपजै, माया तिरगुण रूप।
पांच तत्त्व के मेल में, बांधे सकल सरूप।।

माया की महिमा सब गाते हैं। उससे बचने का उपदेश सब एक-दूसरे को देते हैं, परंतु माया के स्वरूप का निर्धारण कुछ कठिन है। माया को परखने का उपाय कोई विरला ही कर पाता है। दृश्यमान जगत में दीखने वाले प्रकृति के मनोहर दृश्य माया नहीं हैं। माया तो मन की आसक्ति का नाम है। कबीर ने कहा—'जो मन को बांध ले, जो मन में बस जाए वह माया है।'

जैनाचार्यों ने जीव के अज्ञानभाव से या मोहभाव से उत्पन्न 'मैं और मेरे' की कल्पना पर आधारित इन अवास्तविक संबंधों को 'अहंकार' और 'ममकार' के नाम से कहा है। किसी दूसरे पदार्थ में 'यहां मैं ही हूं' ऐसी कल्पना कर लेना अहंकार है। किसी दूसरे जीव या पदार्थ में 'यह मेरा है' ऐसी मान्यता रखना ममकार है।

अहंकार और ममकार ही जीव के लिए दुःख और क्लेश के जनक हैं। उसे सुख-दुःख देनेवाली अन्य कोई

शक्ति इस विश्व में नहीं है। ये अहंकार और ममकार के द्वंद्व जीव स्वतः अपने में पैदा करता है और उनके कारण सुखी-दुःखी होता रहता है। यही उसकी 'निजकृत-माया' है। इसे ही 'मन की माया' कहा गया है। साधना के क्रम में सबसे पहले हमारा अहंकार और ममकार छूटना चाहिए। माया का त्याग करने का संकल्प लेकर लोग स्त्री-पुत्र और परिवार को छोड़ देते हैं। घर और व्यापार का त्याग कर देते हैं, परंतु इन सबके साथ जोड़ने वाली मन की सूक्ष्म आसक्ति नहीं छोड़ पाते। माया के आधार छूट जाते हैं, परंतु माया की डोर नहीं टूटती।

कबीरदास ने एक जगह कहा—'स्थूल माया को छोड़ना आसान है, परंतु सूक्ष्म आसक्ति-रूप मन की माया को छोड़ना बहुत कठिन है। मन की झीनी माया बड़े-बड़े साधकों, ऋषि-मुनियों और पीरों को भी साधना से भ्रष्ट कर देती है। जिन्होंने इस झीनी माया पर विजय प्राप्त कर ली उनका स्थूल पदार्थों का त्याग करना सार्थक हो गया। ऐसा ही साधक संसार के दुःखों से ऊपर उठकर सुख प्राप्त कर सकता है—

मोटी माया सब तजें, झीनी तजी न जाय।
पीर पैगम्बर औलिया, झीनी सबको खाय।।
झीनी माया जिन तजी, मोटी गयी बिलाय।
ऐसे जन के हृदय से, सब दुख गये हिराय।।

गोस्वामीजी ने माया को ही सारे अनर्थों की जड़ बताते हुए यह निष्कर्ष निकाला कि सारी मानसिक व्याधियों की उत्पत्ति माया से ही होती है—

मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला,
जेहि तैं पुनि उपजहिं बहु सूला।।

उन्होंने कहा—'माया की दुर्जेय सेना संसार में सर्वत्र फैली हुई है। इस सेना को जीतना आसान नहीं है। अतृप्त काम ही इस सेना का सेनापति है और मायाचारी, छल तथा पाखंड उसके बलवान योद्धा हैं—

व्याप रहेउ संसार महं माया कटक प्रचण्ड।
सेनापति कामादि, मद, दम्भ-कपट-पाखण्ड।।

कबीर ने भी कामना को ही मन की माया निरूपित करते हुए कहा—'उसकी बात तो सब करते हैं, पर उसे पहचानता कोई नहीं। वास्तव में मन की सारी कल्पना ही काम है। वही मन की माया है। इसी माया ने सारे संसार को ठगा है। जो छलिया है। इस विश्व-व्यापिनी माया से ऊपर उठकर एक बार जो डग भर ले, वह प्रणम्य हो जाए—

काम-काम सब कोइ कहे, काम न चीन्है कोय,
जेती मन की कल्पना, काम कहावै सोय।
माया तो ठगनी भई, ठगत फिरै सब देस,
जो ठग या ठगनी, ता ठग को आदेश।

द्वंद्व ही दुःख का जनक है

रेशम का कीड़ा अपने ही भीतर से तंतु निकालकर अपने ऊपर लपेटता है। अंत में उसी बंधन में जकड़ा हुआ मृत्यु का ग्रास बनता है। इसी प्रकार जीव अज्ञान के कारण या मोह-बुद्धि के कारण अपने ही भीतर से द्वंद्व उपजाता है और उनकी गुंजलिकाओं में उलझ जाता है। द्वंद्व अपने आप में दुःखद है। उसकी शाखाएं-उपशाखाएं अनंत हैं। इष्ट और अनिष्ट, प्रिय और अप्रिय, हितकर और अहितकर, सुंदर और असुंदर, शत्रु और मित्र, सज्जन और दुर्जन, अच्छा और बुरा, मेरा और तेरा आदि-आदि न जाने कितने प्रकार के द्वंद्व हम अपने भीतर उपजाते हैं और उन्हीं में खोकर रह जाते हैं। यही द्वंद्व के जनक हैं। इन्हीं के वशीभूत होकर हम इस संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं।

संसार वास्तविकता हो तो हमें कुछ देगा नहीं। स्वप्नवत् बिलकुल मायाजनित हो तो हमारा कुछ लेगा नहीं। जीव के लिए अकारण दुःख और क्लेश पहुंचाने वाले निमित्तों का सृजन दीनबंधु भगवान क्यों करेंगे? प्रकृति तो चेतना रहित जड़ ही है। बहेलिये की तरह भोले प्राणियों को फंसाने के लिए माया का जाल बिछाना चाहिए, ऐसा संकल्प करने की चेतना भी प्रकृति के पास नहीं है। तब हम अपने दुःखों और क्लेशों के लिए ईश्वरीय माया को अथवा प्राकृतिक माया को कैसे दोष दे सकते हैं? यह तो बिलकुल निराधार अभियोग होगा।

हमें इस जन्म और मरण के कोल्हू में पेरने वाली माया तो हम स्वयं रचते हैं। उसके उपादान तो हम ही हैं। हमारे ही भीतर राग-द्वेष और मोह की लहरें उठती हैं जो हमें अशांत कर देती हैं। वहीं अविद्या के वे चक्रवात

उठते हैं जो हमारा सब कुछ तहस-नहस कर देते हैं। मन में उस माया का सृजन करते रहना, दूसरे जीवों में, या पर-पदार्थों में 'मैं और मेरे' का संबंध बनाकर अहंकार और ममकार करते रहना हमारी अपनी भूल है। यह तो हमारा अनादिकाल का संस्कार है।

हम अपने मिथ्या-ज्ञान और मिथ्या पुरुषार्थ से 'अहंकार' और 'ममकार' उपजाते रहते हैं। वे अहंकार-ममकार ही हमारे ज्ञान और पुरुषार्थ को दूषित करके विषाक्त बनाते रहते हैं। रेशम के कीड़े की तरह, उन सबके बीच में फंसे हुए हम बार-बार अपने विनाश की प्रतीक्षा करते हैं। फिर हर बार नया जन्म लेकर, सर्वथा अनजाने परिवेश में पुनः द्वंद्वों की वही फसल उगाने में लग जाते हैं।

साधन तो मिले हैं : संकल्प चाहिए

मनुष्य भव पाकर मन के मायाजाल को तोड़ना, आधि-व्याधि और उपाधि से थोड़ा ऊपर उठकर अविनश्वर सुख की दिशा में कदम बढ़ा लेना, बहुत कठिन नहीं है। तुलसीदासजी ने मनुष्य की देह को संसार सागर से तैरने के लिए बेड़े के समान माना है। उस पर भी ईश्वर की भक्ति और सद्गुरु जैसी नौका का सहारा मिला हो तो फिर हमें और क्या चाहिए। इस जन्म में यह सब तो हमें मिला है। सिर्फ संकल्प की कमी है।

संतों ने तो कहा—'ऐसा दुर्लभ संयोग पाकर भी जो भव-सागर से उबरने का उपाय नहीं करते, उनकी समझ बुद्धिसंगत नहीं है। वे तो आत्मघात की राह पर जा रहे हैं। समय बीत जाएगा और उन्हें आगे जाकर दुःख ही उठाने पड़ेंगे। पछतावा ही उनके हाथ रहेगा। यदि ऐसे प्रमादी लोग, अपनी कायरता छिपाने के लिए काल को, कर्म को या ईश्वर को दोष दें तो वह दोषारोपण सम्यक् नहीं होगा।'

वास्तविकता यही है कि अपनी भूल से हम दुःख उठा रहे हैं, अतः अपने उत्कर्ष के लिए स्वयं ही उद्योग करना होगा। कर्म ऐसे कृपालु नहीं हैं जो स्वयं हमें मुक्त कर दें। काल सदा अपनी गति से चलता है। वह हमारी सहायता के लिए रुकेगा नहीं। रहा ईश्वर, सो वह साक्षीमात्र है। उसे पुकारा जा सकता है, उसका सहारा लिया जा सकता है, पर उसकी ओर बढ़ने का संकल्प तो हमें ही करना होगा। कदम तो हमें ही बढ़ाना होगा।

कठिन नहीं है दुविधा को तोड़ना

कोई सोता हुआ व्यक्ति सपने में देखे कि उसके बिस्तर में और उसके कमरे में आग लग गई है, चारों ओर सब कुछ सुलग रहा है तो हम कल्पना करें कि उस पूरे कमरे की आग बुझाने के लिए कितने पानी की आवश्यकता होगी? एक बूंद भी नहीं चाहिए। किसी प्रकार उस व्यक्ति की निद्रा तोड़ देनी है। बस, इतना पर्याप्त होगा। और कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं है। नींद खुलते ही उसका सारा भय स्वतः समाप्त हो जाएगा। सारी आग, सारी तपन और सारा धुआं न जाने कहां विलीन हो जाएगा। वह, जो अभी-अभी जल मरने की विभीषिका से आतंकित था, जागते ही अपनी सुरक्षा के प्रति आश्वस्त हो जाएगा। उसे एक सर्वथा नवीन शीतलता का अनुभव होगा।

मन की माया का आतंक भी ऐसा ही है। उसकी तपन भी इतनी ही काल्पनिक है। उस आतंक की आग को बुझाना भी इतना ही आसान है। केवल सृष्टि का रहस्य जानने की उत्कण्ठा चाहिए। संसार की वास्तविकता को समझने का कौशल चाहिए। अपनी मोह-निद्रा को नाश करने की भावना चाहिए।

मोह-निद्रा का अवसर होते ही व्यक्ति में सृष्टि के रहस्यों को समझने की पात्रता आ जाती है। कुरुक्षेत्र में वासुदेव कृष्ण ने विश्व-रूप दिखाकर अपने सखा को सृष्टि के उन्हीं रहस्यों का परिचय तो कराया था। आज भी साधक की मूल समस्या यही है। हमारे भीतर का अर्जुन भी हताशा ग्रस्त हो रहा है। बार-बार संसार और शरीर के स्वभाव का चिंतन ही उसमें कर्मठता का संचरण कर सकता है। विश्व की वास्तविकता की अवधारणा ही उसके लिए आगे का पथ प्रशस्त कर सकती है। सृष्टि की यथार्थता को समझने के लिए संतों ने जो दृष्टिकोण अपनाए हैं उन्हें अनुप्रेक्षा या भावना कहा गया है। भावना वैराग्य की माता मानी गई है। भावनाओं का पुनः-पुनः चिंतन करने से संसार की परिपाटी टूटती है। भावना भव-नाशनी। ❑

तेरापंथ शासन का कार्यकारी हस्ताक्षर महासभा

महासभा का इतिहास

लेखक
मुनि सुमेरमल (मंत्रीमुनि) लाडनूं

संपादक
मुनि उदितकुमार

गतांक से आगे...

हर संस्था/सोसाइटी/संगठन का अपना उद्देश्य और कार्यविधि होती है। संगठन की सक्रियता व निष्क्रियता उसके कार्यकर्ताओं पर निर्भर करती है। संगठन की प्राणवत्ता व जीवंतता युगानुरूप परिवर्तन और अपने सात्विक गौरव पर आधारित रहती है। अपनी गौरवमयी संस्कृति व उज्ज्वल परंपरा को अक्षुण्ण रखने के लिए सचेष्ट एवं कटिबद्ध रहना अत्यंत आवश्यक होता है।

जैन श्वेतांबर तेरापंथ धर्मसंघ में साधु-साध्वियां अपनी चर्या, साधना व गुरुदृष्टि के आराधक होते हैं और इस क्रम में जागरूक भी रहते हैं। तेरापंथ की नींव को मजबूत बनाने में साधु-साध्वियों ने अपना सब-कुछ न्योछावर किया है। हमारे धर्मसंघ में जहां साधु-साध्वियों का समर्पित योगदान रहा है वहीं श्रावक-श्राविका समाज का भी कोई कम मूल्यवान योग नहीं है। मुनियों की अपनी सीमा होती है, पर श्रावक व्यवहार के क्षेत्र में और भी आगे बढ़ सकते हैं।

मुनियों के साथ श्रावकों का गहरा आत्मीय संबंध होता है। हमारे ग्रंथों में आता है कि साधु गाथापति की नेश्राय (आलंबन) में संयम का पालन कर सकता है। मुनि की साध्वोचित भोजन, पानी, दवा, आवास आदि मौलिक जरूरतें गृहस्थों से पूरी होती हैं। जहां लोग अनुकूल हैं वहां ये सुलभ हैं। प्रतिकूलता में सब दुर्लभ हो जाते हैं। अनायास कष्ट एवं अभाव की स्थिति बन जाती है। श्रावक की अपेक्षा इसी कारण हर कदम पर रहती है।

तेरापंथ के आद्य प्रवर्तक आचार्य भिक्षु ने शुद्ध सैद्धांतिक व आचरणमूलक मार्ग स्वीकार किया। तत्कालीन अशुद्ध परंपरा के विरुद्ध क्रांति का सिंहनाद किया। यह सुनिश्चित है कि क्रांति का विरोध हमेशा होता आया है। कहीं से कोई विरोध नहीं हुआ तो यह समझ लेना चाहिए कि वह वस्तुतः क्रांति नहीं थी, सबके गले सहज में उतरने वाली बात थी।

तेरापंथ के संदर्भ में हुए विरोध को हम चार भागों में बांट सकते हैं--

1. विविधरूपा विरोध,
2. दीक्षा में व्यवधान,
3. कोर्ट-कचहरी,
4. अग्नि परीक्षा।

अवरोध-निवारण

तेरापंथ धर्मसंघ क्रांति प्रसूत संगठन है। इसी कारण इसका प्रारंभ से ही विरोध होता रहा है। हर प्रकार से इसको घेरने/रोकने/दबाने की जबरदस्त कोशिशें हुईं, पर यह क्रांति कभी रुकी नहीं, झुकी नहीं। टूटी नहीं, धुंधली नहीं हुई। यह क्रांति चिनगारी के रूप में शुरू हुई और आज यह प्रकाशपुंज बनकर सबको आलोक दे रही है। पिछली अर्ध-द्विशताब्दी में तेरापंथ के सामने विविध प्रकार के संघर्ष आए, विरोधों का सामना करना पड़ा। विरोध कहां हुआ? किसके

द्वारा हुआ? कैसे हुआ? विरोध के उपशमन में किनका विशेष योगदान रहा? यह एक रोमांचक, दिलचस्प व लोमहर्षक दस्तावेज है। इसके इतिहास को परत-दर-परत खोला जाए तो हमें पता चलेगा कि हमारे श्रावक-श्राविकाओं ने व्यक्तिगत स्तर पर, सामूहिक स्तर पर और बाद में संस्था (महासभा) के स्तर पर अपनी मेधा व प्रभाव का विवेकपूर्ण उपयोग किया और उस विरोध में से एक रास्ता निकाला। अवरोध निवारण में हमारे श्रावक समाज एवं महासभा आदि संस्थाओं के कार्यकर्ताओं का उल्लेखनीय योगदान रहा है। उसकी झलक मात्र देखें—

सं. 1843 के नाथद्वारा चातुर्मास में स्वामीजी को शहर में रहने की मनाही हुई, चाहे सं. 1858 में आचार्य भिक्षु का उदयपुर से निष्कासन हुआ हो, सं 1878 में आचार्य भारीमलजी का उदयपुर में महाराणा भीमसिंहजी ने निष्कासन आदेश दिया हो, चाहे बीकानेर में आचार्य कालूगणी के युग में हुआ उग्र विरोध हो—ऐसे कितने-कितने प्रसंग हैं जब हमारे धर्मसंघ के तत्कालीन श्रावकों ने अपने प्रभाव का उपयोग करके समाधान खोजा। खानदेश व सौराष्ट्र में संतों के प्रवास में हुए विरोध में महासभा के तत्कालीन पदाधिकारियों एवं कार्यकर्ताओं ने उल्लेखनीय सेवाएं दीं।

दीक्षा का विरोध : विभिन्न रूपों में

तेरापंथ की साधना शुद्ध आचार एवं कठोर चर्या का पर्यायवाची शब्द है। इसके साथ सुदृढ़ संगठन ने इसकी महत्ता को और भी वृद्धिंगत किया है। प्रारंभ में आचार्य भिक्षु के समय से विरोध का तांडव रूप सामने आया। विरोधीजनों की यह योजना थी कि ये फन उठाएं, उससे पहले इन्हें कुचल दिया जाए अन्यथा अपने लिए एक मुसीबत बन सकते हैं। उस प्रचंड विरोध में भी तेरापंथ अचल रहा। मात्र अचल ही नहीं, धीरे-धीरे इसका विस्तार भी होता गया। जब छोटे-छोटे किशोर-किशोरियों की दीक्षा का दौर शुरू हुआ तो उन विरोधियों को यह खतरे की घंटी बजने जैसा लगा। ये छोटे साधु तैयार होकर जब दम-खम के साथ मैदान में उतरेंगे तो हमारा मैदान साफ कर देंगे। इसी कारण यत्र-तत्र दीक्षा रोकने के लिए विविध उपाय खोजने लगे और उन्हें आजमाने लगे। उन तरीकों का मोटे तौर पर यह स्वरूप था—

- जहां कहीं दीक्षा का प्रसंग हो वहां विघ्न डालना।
- दीक्षार्थी के परिवार के किसी सदस्य को तोड़ना, भड़काना व उकसाना।
- राजा, ठाकुर आदि के द्वारा निषेधाज्ञा प्रसारित करवाना।
- दीक्षार्थी का कुछ समय विशेष के लिए अपहरण करना।
- भ्रम फैलाकर जन-मानस को विरोध में खड़ा करना।

अपने इन प्रयासों में विरोधी लोगों को कभी-कभी सफलता भी मिली। निर्णीत तिथि को कभी-कभी बदलना पड़ा। इस मामले में वे सौभाग्यशाली नहीं थे कि तेरापंथ की दीक्षा सर्वथा एक बार भी रुकी हो। जो दीक्षाएं होनी थी, वे होकर रहीं। इन दीक्षा प्रसंगों पर विरोध का भूचाल उठा। हमारे शासननिष्ठ व गुरुनिष्ठ श्रावकों ने अपने प्रभाव, विवेक एवं सूझ-बूझ से उसका शमन किया, सम्मुखीन अवरोधों को हटाया। इन विरोध प्रसंगों में मुनियों की भूमिका सीमित होती है, पर श्रावक लोग समय एवं परिस्थिति के अनुरूप निर्णय लेने में स्वतंत्र होते हैं। इस संदर्भ में किसी राज्याधिकारी को समझाते, अपेक्षा हुई तो संगठित बनकर धमकी रूप प्रतिवाद करते, अपने पद एवं प्रभाव का भी उपयोग करते।

तुलसी युग का प्रथम दीक्षा विरोध

आचार्यश्री तुलसी के आचार्यकाल में भी बाल दीक्षा का विरोध शांत नहीं हुआ। कहीं-कहीं तो युवा दीक्षा ही होती, फिर भी लोग बाल दीक्षा कह कर अवरोध खड़ा करने का प्रयास करते।

सन् 1949 में आचार्यश्री तुलसी ने जयपुर

चातुर्मास किया था, अणुव्रत आदोलन प्रारंभ होने के बाद यह पहला चातुर्मास था। जयपुर में अच्छी जन-जागृति हुई। लोगों में अच्छा प्रभाव पड़ा। विरोधी लोग इससे बौखला गए। आचार्यश्री तुलसी को नीचा दिखाने का कोई बहाना ढूंढ़ने लगे। ज्योंही कार्तिक कृष्णा नवमी के दिन दीक्षा महोत्सव होने की घोषणा हुई, विरोधी खेमा सक्रिय हो उठा। पैंफलेटबाजी से पूरे शहर को आशंकित कर दिया। अनेक राजनेताओं व विचारकों को आमंत्रित करके बाल दीक्षा के विरोध में सार्वजनिक भाषण करवाए। समाचार पत्रों में भ्रामक समाचार प्रतिदिन छपने लगे। कई बुद्धिजीवी, तथाकथित बुद्धिजीवी तथा विरोधी जैन लोगों ने भी कमर कस ली। उनका लक्ष्य था–इस बार तेरापंथी आचार्य को मजबूर कर दें जिससे बाल दीक्षा देना भूल जाएं। इसके लिए उन्होंने बाल दीक्षा विरोधी समिति गठित की।

ऐसे समय में कुछ चिंतनशील व्यक्तियों ने सुझाव दिया कि दीक्षा के बारे में एक सार्वजनिक प्रवचन होना चाहिए। आश्विन कृष्णा 6 को सार्वजनिक प्रवचन रखा गया। हजारों लोगों की समुपस्थिति में आचार्यश्री तुलसी ने दीक्षा पर विस्तार से प्रवचन दिया।

विशिष्ट लोगों का आगमन

बाल दीक्षा के संदर्भ में राजस्थान समाजवादी दल के प्रधान केदारनाथजी, बिहार के समाजवादी नेता श्री कमलनयन, जयपुर प्रजा परिषद के सभापति श्री टीकाराम पालीवाल (जो बाद में राजस्थान के मुख्यमंत्री बने) आदि ने आचार्यश्री से बातचीत की और संतुष्ट हुए। आश्विन कृष्णा एकादशी को दीक्षा विरोधी लोगों का एक शिष्टमंडल आया और बाल दीक्षा के बारे में आचार्यश्री से चर्चा की। आग्रह होने से उन्होंने समझने का प्रयास ही नहीं किया।

स्वास्थ्य मंत्री राजाराव हणुवंतसिंहजी, सामाजिक एवं राजनीतिक कार्यकर्त्री तथा राजपूताना यूनिवर्सिटी में सीनेट की मेम्बर श्रीमती शारदा भार्गव, कोलकाता हाईकोर्ट के न्यायाधीश श्री एन. के. चटर्जी, एडवोकेट श्री रघुनाथ सहाय शर्मा (रामराज्य परिषद् जयपुर के महामंत्री), महामहोपदेशक वेद वाचस्पति मोतीलालजी शास्त्री, जगन्नाथजी शास्त्री, शशिभूषणदास गुप्ता (कोलकाता विश्वविद्यालय के व्याख्याता), जैन संस्कृति रक्षक समिति के प्रचारक केसोलालभाई एवं सागरजीभाई, राजपूताना पुलिस के आई.जी.पी. श्री राघवेन्द्र बनर्जी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनको जैनधर्म की दीक्षा और तेरापंथ की दीक्षा पद्धति के बारे में विस्तार से जानकारी दी गई। सही जानकारी पाने के बाद उसके मन में किसी प्रकार का संदेह नहीं रहा। प्रायः सभी व्यक्तियों ने दीक्षा के साथ योग्यता का अनुबंध स्वीकार कर योग्य दीक्षा का समर्थन किया। व्यक्तिशः संपर्क और चर्चा से काफी लोग तेरापंथ की दीक्षा को उचित मानने लगे थे। फिर भी दीक्षा-विरोधी वातावरण बल पकड़ता जा रहा था। राजस्थान के मुख्यमंत्री श्री हीरालालजी शास्त्री व उनका पूरा मंत्रिमंडल दीक्षा के विरोध में कमर कसकर उतर आया।

श्री जयप्रकाशनारायण को भी इस संदर्भ में बुलाया गया। आचार्यश्री से बात करने के बाद जयप्रकाश तेरापंथ की रीति-नीति से इतने प्रभावित हुए कि विरोध की बात कहीं छूट गई। विरोधी लोगों का यह वार खाली गया। इसके बाद उन्होंने गंभीर अनुसंधानी मुनि जिनविजयजी, प्रज्ञाचक्षु पंडित सुखलालजी, पंडित बेचरदासजी, दलसुखभाई मालवणिया आदि जैन दर्शन के प्रकांड विद्वानों को जयपुर बुलाया। तब तक उनके साथ हमारा कोई संपर्क नहीं था। उनके मन में तेरापंथ की दान-दया विषयक मान्यताओं को लेकर कुछ भ्रांतियां भी थीं। बाल दीक्षा की बात और जुड़ गई। बाद में ये सभी विद्वान तेरापंथ के बहुत अनुकूल बन गए।

महासभा अधिकारी पहुंचे

विरोधी लोगों का एक ही नारा था–'हम इस दीक्षा को रोक कर रहेंगे।' इसके पीछे उन्होंने अपनी पूरी ताकत लगा दी। उससे पूरे देश में तूफान खड़ा

हो गया। विरोध की लहर जहां-जहां पहुंची, वहां से तेरापंथ के लोग समूहबद्ध होकर जयपुर आने लगे। जयपुर के कार्यकर्ताओं के सामने नई समस्या खड़ी हो गई। वे आने वाले लोगों की व्यवस्था करें, विरोध का प्रतिवाद करें या चातुर्मास से आध्यात्मिक लाभ उठाएं? यह समस्या क्या थी, एक चुनौती थी।

स्थानीय कार्यकर्ताओं ने आत्मविश्वास, मनोबल और साहस के साथ इसे झेला। उनके साथ देश-भर के जिम्मेवार व्यक्ति एकजुट हो गए। उनमें तेरापंथी महासभा के दिग्गज अधिकारी छोगमलजी चौपड़ा, श्रीचंदजी रामपुरिया, संतोषचंदजी बरड़िया, गोपीचंदजी चौपड़ा आदि, आदर्श साहित्य संघ के विशिष्ट कार्यकर्ता हनूतमलजी सुराना, जयचंदलालजी दफ्तरी, सुगनचंदजी आंचलिया, टीकमचंदजी डागा, शुभकरणजी दसानी, देवेन्द्रकुमारजी कर्णावट, मोतीलालजी रांका, मूलचंदजी सेठिया तथा धनराजजी सेठिया (बैंगलोर), धनराजजी रांका (ब्यावर), नेमीचंदजी पींचा (सरदारशहर) आदि व्यक्तियों के नाम उल्लेखनीय हैं और भी अनेक व्यक्ति उनके साथ थे। ऐसा प्रतीत होता था मानों समाज में नया जोश जाग गया। इधर भाईजी महाराज मुनिश्री चंपालालजी उस वर्ष दिल्ली में थे। उनको विरोधी वातावरण की जानकारी मिली तो वे वहां सक्रिय हो गए।

दसाणीजी की सक्रियता

मंत्रीमुनि श्री मगनलालजी स्वामी सरदारशहर थे। उनको जयपुर के विरोधी वातावरण की सूचना मिली। उनका चिंतित होना स्वाभाविक था। शुभकरणजी दसाणी मंत्रीमुनि का इंगित पाकर इस संदर्भ में दिल्ली पहुंचे। वहां प्रधानमंत्री पंडित नेहरू से मिलने का प्रयास किया, पर वे अमेरिका की यात्रा पर थे। वे गृहमंत्री सरदार पटेल से मिले। पटेल उन दिनों प्रधानमंत्री का काम संभालते थे। उनको सारी स्थिति से अवगत किया। उन्होंने वरिष्ठ केंद्रीय मंत्री सर गोपाल स्वामी आयंगर से मिलने के लिए कहा। दसाणीजी ने आयंगर से मिलकर जयपुर का घटनाचक्र बताया। आयंगर ने एक बार तो रुख नहीं जोड़ा। वे बोले—आप लोग बाल-दीक्षा बंद क्यों नहीं कर देते? दसाणीजी ने कहा—ऐसा कोई कानून तो है नहीं। ऐसी स्थिति में इस विषय में चिंतन करने का अधिकार दीक्षा देने वालों और दीक्षा लेने वालों को है, पर मैं आपसे पूछना चाहता हूं कि राजकाज के लोग धर्म के काम में क्यों फंसते हैं? सरकार का काम है कानून का पालन करवाना, वह भी कहां हो रहा है? आप बाल दीक्षा पर रोक की बात करते हैं तो कानूनन् प्रतिबंधित बाल वेश्यालयों पर रोक क्यों नहीं लगाते?'

मुख्यमंत्री का विरोधी रुख

शुभकरणजी के इस तर्क से आयंगर प्रभावित हुए। उन्होंने तेरापंथ धर्मसंघ और दीक्षा-पद्धति के बारे में विस्तार से जानकारी पाकर कहा—तुम एक बार जयपुर जाओ और वहां का वातावरण देखकर आओ।' दसाणीजी ने जयपुर आकर सारी बात बताई। वहां की स्थिति का प्रामाणिक अध्ययन करने के लिए एक बार राजस्थान के मुख्यमंत्री से मिलना आवश्यक था। छोगमलजी चौपड़ा, मोहनलालजी कठोतिया, नेमीचंदजी गधैया, नेमीचंदजी पींचा, शुभकरणजी दसाणी, संतोकचंदजी बरड़िया, तिलोकचंदजी चौपड़ा आदि कुछ व्यक्ति मुख्यमंत्री हीरालालजी शास्त्री से 11 अक्टूबर को प्रातः 9.45 बजे मिले। उन लोगों ने शास्त्रीजी से कहा—आपके राज्य में दीक्षा का विरोध हो रहा है। इस विषय में आपको ध्यान देना चाहिए। दीक्षा के समय शांति बनी रहे। शास्त्रीजी बोले—दीक्षा की बात ठीक नहीं है। आपको दीक्षा देनी ही है तो यहां से चालीस-पचास किलोमीटर दूर जाकर दीक्षा दे दो। यहां दीक्षा देंगे तो उसका भयंकर विरोध होगा। उन्होंने यह भी कहा—मैं राजसत्ता में हूं, अन्यथा मैं प्रथम दीक्षा विरोधी होता और उसे रोकने का हर संभव प्रयास करता।

मुख्यमंत्री की बात सुन उन लोगों को जोश आ गया। वे बोले—मुख्यमंत्री महोदय! आप हमारी बात भी सुन लीजिए। दीक्षा होगी और उसके लिए जो स्थान निश्चित किया गया है, वहीं होगी। गधैयाजी ने सीधी चोट करते हुए कहा—आप अपनी गद्दी छोड़कर

जनता में आ जाइए और अपनी शक्ति का परीक्षण कर लीजिए, अन्यथा मन में रह जाएगी। आप भूल मत जाना। हम अन्याय को बरदाश्त नहीं करेंगे। उस तनावपूर्ण वातावरण में मुख्यमंत्री से सहयोग की कोई आशा नहीं रही। भयंकर विरोध की संभावना पुष्ट हो गई। शहर में धारा 144 प्रभावी हो गई ताकि दीक्षा का जुलूस नहीं निकल सके।

केंद्र सरकार का सहयोग

विरोध सरकारी स्तर पर था। सरकारी सहयोग के बिना उससे निबटना कठिन प्रतीत हुआ। चिंतन का निष्कर्ष यह निकला कि पुनः दिल्ली जाकर केंद्र सरकार को स्थिति बताई जाए। दसाणीजी ने आचार्यश्री से निवेदन किया—मैं अकेला नहीं जाऊंगा। आखिर मोहनलालजी कठोतिया और शुभकरणजी दसाणी जयपुर से दिल्ली गए। वहां वे केंद्रीय मंत्री गोपालस्वामी आयंगर से मिले। उन्होंने धैर्य के साथ सारी स्थिति का आकलन किया और अपने सचिव श्री ए.के. बेलोड़ी को कुछ निर्देश दिए। बेलोड़ी ने कठोतियाजी और दसाणी से बात की। वह बहुत खुश हुए। उनने कहा—आप बैठिए, मैं अभी जयपुर फोन कर रहा हूं। बेलोड़ी ने गृहमंत्री श्री प्रेमनारायण माथुर को फोन किया। जयपुर से संवाद मिला कि गृहमंत्री अभी सो रहे हैं। बेलोड़ी ने कहा—राजस्थान के गृहमंत्री सो रहे हैं, पर केंद्र जाग रहा है। गृहमंत्री को जगाओ या सीधी शास्त्रीजी से बात कराओ।

बेलोड़ी ने गृहमंत्री से पूछा कि वहां क्या हो रहा है? गृहमंत्री ने उत्तर दिया—जयपुर में जैनों की दीक्षा होने वाली है। उसे लेकर विरोध हो रहा है। हमने धारा 144 लगा दी। इस पर बेलोड़ी ने कहा—ठीक किया, पर ध्यान रखना, धारा इसलिए है कि दीक्षा में बाधा न आए। दीक्षा के जुलूस और कार्यक्रम में कोई अव्यवस्था न होने पाए। यह पूरी जिम्मेवारी सरकार की है। हमने स्थिति का पूरा अध्ययन किया है और यहां से पूरा ध्यान दिया जा रहा है।

केंद्र सरकार से उक्त निर्देश पाकर राजस्थान सरकार सकते में आ गई। दीक्षा के प्रसंग में किसी भी प्रकार की अवांछित घटना की जिम्मेवारी सीधी राज्य सरकार पर आने वाली थी। इस दृष्टि से सरकारी तंत्र की नीति बदल गई। विरोधी वातावरण में तो कोई अंतर नहीं आया। केवल सरकारी महकमा विरोध के मामले में शिथिल हो गया।

दीक्षा से एक दिन पहले दीक्षार्थी भाई-बहिनों की भव्य शोभायात्रा निकाली गई। देश-भर से आए श्रद्धालु लोग यात्रा में साथ रहे। सरकार को पूरी व्यवस्था करनी पड़ी। शहर के प्रमुख मार्गों से होती हुई शोभायात्रा चंदन महल पहुंची। आचार्यप्रवर ने मकान की छत पर खड़े होकर उसे संबोधित किया।

दीक्षा सानंद संपन्न

बनीपार्क में स्थित गोविंद इंटर कॉलेज के विशाल प्रांगण में दीक्षा का कार्यक्रम था। आचार्यश्री त्रिपोलिया रोड से चांदपोल होते हुए कॉलेज पहुंचे। प्रवास स्थल से लेकर दीक्षा स्थल तक पुलिस की दोहरी व्यवस्था की। मकानों के ऊपर और नीचे—दोनों स्थानों पर पुलिस की इतनी व्यवस्था पहले कभी नहीं देखी गई। लाल भवन (स्थानक) के आसपास और भी अधिक पुलिस की व्यवस्था थी। कॉलेज का विशाल प्रांगण जनता से भरा था।

दीक्षा समारोह की सानंद संपन्नता से दीक्षा-विरोध की रीढ़ टूट गई। उसके बाद ऐसा भयंकर विरोध कभी नहीं हुआ। जयपुर के उस कार्यक्रम से मनोबल बढ़ा और समाज के प्रमुख लोगों को व्यापक स्तर पर संपर्क साधने का अवसर मिला। ❐

क्रमशः....

बिनोदकुमार चोरड़िया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता—1
के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं प्रेषित और सांखला प्रिंटर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।

With best compliments from :

SMT MACHINES

INFRASTRUCTURE

- In-House third party inspection facility.
- SMT has three manufacturing units.
- SMT has more than 150 Heavy and Precise machine out of which about 60 machines are imported from Europe, efforts to deliver the best and on time.
- All the designing is done on 3D Autodesk Inventor software's by our experienced engineers
- SMT has taken initiative to provide Operating and Instruction Manual with most of the machines integrated by Oracles ERP Software, dedicating ourselves to professionalism committed for the Best of the After Sale Services and lot more.

Turnkey Project Experts in Total Steel Making

Apart from regular products, we provides-Certified TMT Quenching Box, Automatic and Skid Type transfer cooling Beds, Twin Channels, Eden Borne Type Coiler, Flying & Dividing Shears, Cobble Shears, Section Straightening Machine, Repeaters Roller Conyeyors, Tilting & Y Table, Snap Shears etc.

Fine Strokes (09866291098)

SMT MACHINES (INDIA) LIMITED

An ISO 9001:2000 Co., An ISO 14001 : 2004 Co., An ISO 18001: 2007 Co.
D & B Ranked SE 2A Unit, Govt of India Recognized Export House
G.T.Road Near Industrial Focal Point, Mandi Gobindgarh - 147301,
INDIA, Mob : + 91-93577 55555
Tel : + 91- 1765 256337, 257742, Fax : 255199
e- mail : info@smtmachinesindia.org, info@smtsteelmills.com
Web : www.smtmachinesindia.org. www.smtsteelmills.com

जैन भारती, मई , 2013 ■ प्रेषण दिनांक 28 अप्रैल, 2013
भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पंजीयन संख्या : बीकानेर/048/2012-2014

शासनसेवी बुद्धमल दुगड़
सुरेन्द्रकुमार, तुलसीकुमार, कमलकुमार दुगड़
(कल्याण मित्र दुगड़ परिवार)

के.बी.डी. फाउण्डेशन
बुद्धमल सुरेन्द्र दुगड़ फाउण्डेशन
बुद्धमल तुलसी दुगड़ फाउण्डेशन
बीएमडी कमल दुगड़ फाउण्डेशन

201/504, वैष्णो चेंबर, 6, बेब्रॉर्न रोड, कोलकाता 700001
फोन : 22254103/4889

प्रेषक : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401 • फोन : 0151-2270779

नोट : आपके पते में कोई कमी, अशुद्धि या पिन-कोड नहीं हो तो कृपया सूचित करें। ग्राहक संख्या अवश्य लिखें।